मधुपर्व

विमला ठकार

1

मधुपर्व

विमला ठकार

विमल-प्रकाशन-ट्रस्ट
अहमदाबाद

© विमल-प्रकाशन-ट्रस्ट
कृष्णकुटी; 5 थियॉसॉफ़िकल हाउ० सोसाइटी
दादा साहेब ना पगला, नवरंगपुरा
अहमदाबाद—380009

प्रथम संस्करण
1985

मूल्य : 20 रुपये

मुद्रक :
पारिजात प्रिण्टरी
राणिप, अहमदाबाद—5

निवेदन

फरवरी (२१ से २५) १९८४ में बिहार के दरभङ्गा जिले में (लहेरिया-सराय में) श्र. "दीदी" का ध्यानशिबिर हुआ। वहाँ बिहार के प्राय: सब जिलों से खादी व सर्वोदय जगत् के कार्यकर्त्ता (तथाकथित दोनों वर्ग—जे. पी. प्रवण तथा विनोबा प्रवण—एकहृदय हो कर) जिज्ञासु भाव से सम्मिलित हुए थे। और फिर, इस शिबिर के मूल प्रेरणास्रोत एवं प्रकट छत्रछाया-रूप रहे—भारत के महान् अध्यात्मसाधकों में अन्यतम तथा गाँधीजी के प्रति सम्पूर्ण समर्पित जीवन वाले, स्वाधीनता संग्राम के सविशेष तपस्वी सेनानी तथा लोकनायक जयप्रकाशजी के अन्तरङ्ग मित्र-साथी श्रद्धेय पं. रामनन्दन मिश्रजी।

पूरे शिबिर में श्रीगणेश से पूर्णाहुति पर्यन्त वे स्वयं उपस्थित रहे। प्रारम्भ एवं पूर्णाहुति में (क्वचित् मध्य में भी) उनकी जीवन्त-रसनिर्झरिणी वाणी भी प्रवाहित हुई। उन्होंने जिस भाव से इस शिबिर का स्वागत किया, तथा सम्मिलित सभी शिबिरार्थियों ने जिस भावभरित वातावरण का इस शिबिर में अनुभव-आस्वादन पाया, उसकी ओर इङ्गित करती हुई अपनी एक कविता श्र. बाबूजी (मिश्रजी) ने अपने प्रवचन में प्रसङ्गतः सुनाई थी—उसी में से **'मधुपर्व'** शब्द इस प्रवचन—संकलन का शीर्षक बना।

श्र० मिश्रजी के प्रवचन अपने-आप में अनूठी भावसृष्टि हैं। उनकी वाणी जब जितनी ध्वन्यङ्कन तथा लेखनी की पकड़ में आ पायी उतनी ही स्वतन्त्र रूप से पाठकों के आस्वादन के लिये परिशिष्ट रूप में संकलित है।

मुद्रण के समय मुद्राराक्षस के अट्टहास में ि, ी, ु, ू, ृ आदि तथाकहीं समूचे अक्षर भी उड़ जाने के कारण एवं अपने दृष्टि-प्रमाद के कारण रह गईं भूलों के कारण पाठकों का जो रसभङ्ग होगा उसके लिये अन्तस्तल से क्षमा-प्रार्थिनी हूँ।

'मधुपर्व' के प्रवचन एवं प्रश्नोत्तरियों में 'दीदी' की सहज-रसमयी वाणी में जो मधुविद्या मानो प्यासे शिशु के लिये माँ की तरह करुणार्द्र होकर बरसी है, वह जीवन-पात्र में धारण हो एवं कण-कण में रच जावे—यही विनति परम करुणामय के चरणों में निवेदित है।

श्रीरामनवमी, ३०-३-८५

—ऊर्मिला

अनुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ
१. प्रथम प्रवचन	१
२. द्वितीय प्रवचन	१३
३. तृतीय प्रवचन	२५
४. चतुर्थ प्रवचन (मुद्रित नहीं है)	—
५. प्रश्नोत्तरी	३९
६. पञ्चम प्रवचन	५५
७. षष्ठ प्रवचन	६६
८. प्रश्नोत्तरी	७९
९. सप्तम प्रवचन	९७
१०. अष्टम प्रवचन	१०८
११. प्रश्नोत्तरी	१२२
१२. नवम (पूर्णाहुति) प्रवचन	१२९
परिशिष्ट	
(श्रद्धेय रामनन्दन मिश्र जी के प्रवचन)	
१. उद्घाटन	१३५
२. लघु-प्रवचन	१३९
३. लघु-प्रवचन	१४०
४. पूर्णाहुति	१४२

卐

ॐ

प्रथम प्रवचन

दि. २१/२/८४ प्रात : १०.३० बजे

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवम्
तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकम्
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ।।
हरिः ॐ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ

प्रत्येक घटना में लीलामय प्रभु का कोई संकेत छिपा होता है । श्रद्धेय रामनन्दन बाबूजी ने कहा कि यहाँ आना—यह भी अध्यात्मशिबिर के लिये कैसे स्वीकार कर लिया—आश्चर्य है ।... पर हम कहाँ जानते हैं प्रभु किस निमित्त से कहाँ ले जाना चाहते हैं?... इस जीवन में बहुत छोटी आयु में बिक गये हम प्रभु के नाम और रूप पर। जीवनभर और कुछ नहीं किया, गाया है उन का नाम और ध्याया है उनका रूप ।... किसी भी निमित्त से यहाँ लाना चाहते हैं प्रभु, जो भी उनका हेतु होगा वे जाने। उन की पुकार पर पहुँच जाना मेरा धर्म हैं। इस श्रद्धा से मैं आई हूँ ।

परम सौभाग्य है कि भगवान रामकृष्ण परमहंस द्वारा और महात्मा गांधीजी के द्वारा जिस एक वैज्ञानिक अध्यात्मयुग का आविष्कार हुआ, उस वैज्ञानिक अध्यात्म के सशक्त, समर्थ प्रवक्ता परम भागवत श्री रामनन्दनबाबू यहाँ आये और अपने आशीर्वचन आप के और मेरे इस चार-पाँच दिन के सहजीवन के लिये उन्होंने दिये। यह अपने में एक महत्त्वपूर्ण घटना है ।

...ये चार दिन हम सुबह-शाम साथ बैठेंगे । शब्दमय संवाद होगा और शब्दातीत सहजीवन होगा। एक सामान्य व्यक्ति के नाते मैं ने जीवन को जैसा देखा है, समझा है, जिया है, और पाया है, वह बात आप के पास रखूँगी। कुछ प्रश्नोत्तरी होगी, तब जितनी प्राञ्जलता और सहजता से मैं बातें करूँगी, उतनी ही मुक्तता से आप को इस विषय में जो कुछ कहना—पूछना हो वह आप पूछेंगे ।

अध्यात्म के क्षेत्र में से व्यक्ति-प्रामाण्य को हटाना, स्वाधीनता और व्यक्तिगत अभिक्रम को अक्षुण्ण रखते हुए आत्मानुभवी और जिज्ञासुओं के बीच संवाद साधना, सहयोग साधना—यह बहुत बड़ा धर्म हमारे सामने है। पहले हम सोचेंगे कि 'अध्यात्म' से अभिप्राय क्या है? राष्ट्र की परिस्थिति इतनी

गम्भीर होने पर भी इस अध्यात्म–चर्चा का तुक क्या है? औचित्य क्या है? क्यों है?...पुराने दरभंगा जिले में मधुबनी से समस्तीपुर तक भूदान के जमाने में पैदल चली हूँ। जमीन इकट्ठी की है, बाँटी है, मिथिला के अपूर्व मधुर आतिथ्य का आनन्द लूटा है। पर आज जब इतनी भयङ्कर परिस्थिति देश की है, कितने भयानक सङ्कट में से देश गुज़र रहा है? इस ज्वाला की आँच आर्थिक–राजनैतिक सामाजिक जीवन को और शैक्षणिक क्षेत्र को भी झुलसा रही है, ऐसे समय 'अध्यात्मचर्चा' के लिये इतनी दूर यहाँ आना क्यों?

यदि राजनैतिक स्वाधीनता के ३५ वर्षों बाद भी इस देश के ५०% लोगों को भूखे–नंगे रहना पड़ता है; विद्यालयों—विश्वविद्यालयों की संख्या बेतहाशा बढ़ने पर और राष्ट्र का संयोजन अपनी सरकार के हाथों में होने पर भी ढाई करोड़ सुशिक्षित नौजवानों को बेकार रहना पड़ता है; ग्रामीण जनता का शहरों द्वारा बढ़ता हुआ शोषण रोका नहीं जा सकता; नैतिक मूल्यों का ह्रास ही नहीं लोप हो रहा है; मनुष्य बरबस अपने को पशुता–बर्बरता की ओर घसीटता चला जाता है, तो सोचना पड़ता है कि क्या और कोई बल यहाँ है? और कोई शक्ति है? जिस के सहारे यह देश सङ्कट में से बाहर निकलेगा।

विश्व का इतिहास और सन्दर्भ बता रहा है कि सम्पत्ति के बल पर कहीं पहुँचा नहीं जा सका, पहुँच नहीं पाये, तथाकथित शिक्षण या विचार–प्रचार के द्वारा (मस्तिष्क में जबर्दस्ती कोई सिद्धान्त या आदर्श ठूँसने के द्वारा) भी कुछ निष्पन्न नहीं हुआ। शस्त्रशक्ति, शासनशक्ति, अर्थशक्ति और विचारशक्ति –सब अक्षम सिद्ध हो चुकी हैं मनुष्य का जीवन बदलने में। अन्तर्राष्ट्रीय सङ्कट है मानवता का ह्रास। परस्पर सख्य–सहयोगमय–शान्तिमय जीवन जी नहीं पा रहा है मनुष्य अब तक। इस सिलसिले में और एक शक्ति अपनाई जा चुकी है धर्म–सम्प्रदायों की, धर्म के नाम पर दिये गये आश्वासन, प्रलोभन और भय की। उस में फिर पुरोहितवर्गप्रधान संस्थायें और संगठन बन गये, उस में मुझे उतरना नहीं है, किन्तु धर्म की आड़ में दिये गये प्रलोभन–आश्वासन भय भी मनुष्य की प्रकृति बदल नहीं पाये, क्योंकि वे स्वयं दोषरूप हैं।... ऐसी सभी आज़मायी हुई शक्तियों से अलग किसी स्वतन्त्र शक्ति की खोज है जो मनुष्य को मनुष्य के नाते रहना सिखा सके।

ऐसी शक्ति है अध्यात्म, जो भारतवर्ष की अपनी उपज है। जीवन का चरम सत्य, अन्तिम सत्य क्या है इस का अन्वेषण इस भूखण्ड में हजारों वर्षों से होता आया है। यह विज्ञान है। सभी जानते हैं कि Science is a

network of investigation of the nature of the ultimate reality. चरम सत्य के स्वरूप का अन्वेषण करने पश्चिम में जिज्ञासु निकले अपने पिण्ड से बाहर। इन्द्रियों की मदद से, बुद्धि की मदद से, उपकरणों की मदद से खोजते गये। अणु-अणु में कैसी पृथक्ता है ? छोटे से छोटे परमाणु में स्वतन्त्र ऊर्जा भरी पड़ी है। और फिर सब में ऐसी परस्पर-सम्बद्धता भी है कि पृथक्ता की परिभाषा करना कठिन है। पृथक्ता एक रहस्यमयी कल्पना ही प्रतीत होती है—यहाँ तक वैज्ञानिक पहुँचे हैं। अणु-परमाणु की उस स्वतन्त्र ऊर्जा (quantum of energy contained in the minutest part of the atom) का जीवन के कार्य-कलापों में उपयोग करने तक भी विज्ञान गया है। इस विज्ञान और यन्त्रविज्ञान ने मनुष्य को भौतिक समृद्धि की ऐसी पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया है कि नज़र को चकाचौंध कर दे।

वह जैसा विज्ञान है, वैसी ही सत्य की खोज की दृष्टि ले कर इस भूखण्ड के लोग मुड़े भीतर की ओर, अपने घट के भीतर। उपकरणों का प्रश्न ही नहीं था। इन्होंने इन्द्रियों की गलियों को भी छोड़ दिया। मन-बुद्धि का सहारा छोड़ दिया। शब्द का किनारा छूट गया। सभी शब्द जहाँ लुप्त हो जाते हैं, नाद भी सो जाता है, ऐसे शून्य में अपने ही पिण्ड के भीतर प्रवेश किया। कम साहस का काम नहीं यह भीतर डुबकी लगाना। उस में से जो दृष्टि पाई उस से सत्य का उद्घोष किया। वे हुए ऋषि—सत्य का दर्शन करने वाले। वह सत्य शब्दबद्ध हुए—कहलाये मन्त्र! यह अनुभूत सत्य का उन्मेष है अध्यात्म नामक जीवनविज्ञान।

अध्यात्म ने कहा कि जीवन एक अखण्ड-अविभाज्य-समग्रता या एकता है। A nonfragmant indivisible homogeneous whole of life. यह अखण्ड एकरस सत्ता ही जीवन का चरम सत्य है। उसे खण्डित-विभाजित नहीं किया जा सकता। व्यवहार के लिये हम व्यवस्थायें बना लें वह अलग बात है लेकिन जीवनसत्ता को टुकड़ों में बाँटा-काटा-छाँटा नहीं जा सकता। परमात्मा की एकता, समग्रता, अखण्डता, अविभाज्यता का उद्घोष भारतीय अध्यात्म का निचोड़ है। विश्वभर में अन्यत्र कहीं भी 'परमात्मा सर्वत्र सर्वदा सर्वरूप में व्याप्त है'—ऐसा (वेदान्त की भाषा में देश-काल-वस्तु सीमाओं से अबाधित सत्य का) उद्घोष नहीं मिलेगा। (The curse of fragmentation is upon the western countries) जिस संस्कृति का पुजारी बनकर, जिन के मूल्याङ्कनों का कायल हुआ, जिन की जीवनपद्धति के अन्ध अनुकरण में यह राष्ट्र आज पड़ा हुआ है, उन के पास इस जीवन की एकता, समग्रता, अखण्ड

अविभाज्यता का दर्शन नहीं है।...महाराष्ट्र में एक बालसंत हुए हैं ज्ञानेश्वर। उन्होंने अपने गुरु (बडे भाई श्री निवृत्तिनाथ) के आदेश से श्रीमद्भगवद्गीता पर मराठी भाषा में टीका लिखी। उस के मङ्गलाचरण में सम्पूर्ण ग्रन्थ की फलश्रुति निवेदन करते हुए कहा—

"ॐ नमोजी आद्या। वेदप्रतिपाद्या।
जय जय स्वसंवेद्या। आत्मरूपा॥"

मैं नमन करता हूँ उसे जो 'आद्य' (सब के आदि में है) The causeless cause of creation है। जिस का कोई पूर्वकारण नहीं, जो किसी कारण का कार्य नहीं, सारे संसार का निर्माण होने पर भी जो अविच्छिन्न कारण बना रहता है। वेदों ने जिन का प्रतिपादन करने की कोशिश की है। जो स्वसंवेद्य है। अपने आप को स्वयं ही जानने की जिस में शक्ति है। ज्ञान जिस की क्रिया नहीं, स्वभाव है। ऐसे मेरे आत्मरूप को मैं नमन करता हूँ।

इसलिये मैं ने कहा कि अध्यात्म का उद्घोष है कि परमात्मा है। क्या रूप है उन का? सभी रूप उन के ही हैं। कहाँ रहते हैं? सर्वत्र हैं। कैसे रहते हैं? सब में ओतप्रोत होकर रहते हैं। कब से? सदा से। यह अविभाज्यता, अखण्डता, एकरस समग्रता (Homogeneity) उन का स्वरूप है। पञ्चमहाभूतों की गुदड़ी नहीं है परमात्मा।

इस भगवत्सत्ता के अधिष्ठान पर यदि संस्कृतियों का गठन होगा तो जीवन के मूल्य बदल जायेंगे। जीवन की रीति–नीति–पद्धति बदल जायेगी। भारतीय संस्कृति में इस भगवत्सता का स्वीकार रहा है, और आज हम उस अधिष्ठान से बहुत दूर हट गये हैं, इसलिए भारत का यह अधःपतन दिखाई दे रहा है।

प्रश्न है कि क्या जीवन की यह व्याख्या हम स्वीकार करते हैं? या यही मानते हैं कि "There is a struggle for existence and survival of the fittest" —यानी जीवन एक संघर्ष है, और जो सब से अधिक शक्तिशाली होगा—पाशविक–शारीरिक बल, शस्त्रों का बल, धन का बल, जिस के पास अधिक होगा—वही जीने लायक है! यह जो पाश्चात्य-विज्ञान का metaphisics है—इसी का स्वीकार है! या स्वयम्भू स्वयंसिद्ध भगवत्सत्ता का स्वीकार है चित्त में! भारतीय जनता को यह जवाब देना है। पहला सवाल है अपने सामने कि क्या उस स्वसंवेद्य स्वयंसिद्ध अविभाज्य एकरस सत्ता का स्वीकार है?

उस सत्ता को अविभाज्य, अखण्ड, क्यों कहा गया ? इसलिए कि यहाँ जो कुछ भी है, जिस किसी रूप में है, वह परस्पर सम्बन्धित है। The content of the universal mystery is the inter–relatedness of every single being. जो कुछ भी पदार्थ है वह एक स्वतन्त्र 'being' है, मेरे–आप के जैसा। हमने उन को भोग्य वस्तु मान लिया है लेकिन वे हमारे साथी हैं—ये पहाड़, ये सरितायें, ये सागर, ये पशु–पक्षी—ये सहजीवन में साथी हैं हमारे। जिन के साथ हमें जीना हैं, जो हमें जिलाते है और जिन्हें हमें जिलाना है, ऐसे भगवद्दत्त साथी हैं। —यह Inter–relatedness —सब तरफ से सबकी सम्बन्धितता जीवन का रहस्य है। हम इसे भूल गये। मान लिया कि मनुष्य सब का मालिक है। लुटारू हो गई है मनुष्यजाति। पृथ्वी पर ही नहीं, अब तो चाँद पर पहुँच कर उसका भी हम शोषण करना चाहते हैं। नदियों का शोषण, जंगलों का, जमीन का, पशुओं का, पक्षियों का— —सब का शोषण ही करते आये हैं, और शोषण के नये–नये तरीके खोजते जा रहे हैं। भूल गये कि —

"ईश का आवास यह सारा जगत्, जीवन यहाँ जो कुछ उसी से व्याप्त है।
अत एव करके त्याग उसके नाम से, तू भोग कर उसका तुझे जो प्राप्त है।"

अपनी संस्कृति में तो हर चीज़ को नमन है —सूर्य की किरणों को, घास के तिनके को, जल की हर बूंद को! बहते पवन को, नीले नभ को! यह जो परस्पर सम्बन्धितता है जीवन की, इसका यदि स्वीकार हो तो जीवन के प्रति आदर और श्रद्धा नस–नस में भर जायेगी। परस्पर सम्बन्धितता का स्वीकार न हो तो सत्य को जीने की प्रेरणा नहीं होती, अहिंसा अर्थहीन हो जाती है। हम परस्पर एक जीवित (organic) अवयव–अवयवी–सम्बन्ध से गुंथे हैं। इसीलिये सत्य–अहिंसा–करुणा-प्रेम शाश्वत जीवनमूल्य बने हैं।

ऐसे जीवन–विज्ञान का स्रोत है भारत के पास। उसे हम भूल गये हैं। गांधीजी के रूप में सदेह भारतीय संस्कृति का सार हमारे बीच जी गया, जिन्होंने इस परस्पर सम्बन्धितता का अनुभव कर के कहा कि सत्य ही परमात्मा है। उस सत्य को व्यवहार में जीने की पद्धति है अहिंसा। इन सत्य–अहिंसा पर आधारित जीवनपद्धति समाज में लाने के लिये बनानी होगी— मानवनिष्ठ अर्थव्यवस्था– मानवनिष्ठ राजनीति। इस के लिये राजनैतिक स्वतन्त्रता ज़रूरी थी— अतएव गांधीजी स्वाधीनता–संग्राम में जुटे थे और उसमें भी सत्य–अहिंसा को अक्षुण्ण रखने पर बल दिया था। 'सत्य–अहिंसा को छोड़ कर आने वाला स्वराज भी नहीं चाहिये'— कहा था उन्होंने !

यह एक चुनौती है। लोग मानते हैं कि मनुष्य—समाज का परिवर्तन चुनौती है। लेकिन मूलभूत चुनौती यह है हमारे सामने कि भारतीय संस्कृति के अधिष्ठान का स्वीकार हम करना चाहेंगे या नहीं? राष्ट्र का निर्माण उस स्वीकार के आधार पर होगा या नहीं?

वह भगवत्सत्ता का स्वीकार ही अध्यात्म का प्रथम चरण है। भगवत्सत्ता प्राणीमात्र के देह—मन—प्राणों में गुँथी हुई है। हम केवल हाड़मांस के पुतले नहीं हैं। अवश्य ही—हाड़—मांस—रक्त—मज्जा आदि सप्तधातुओं से, पञ्चमहाभूतों से बना हुआ शरीर है, उसके भीतर विचार—विकार—संस्कारों से भरा हुआ मन है, बुद्धि है, लेकिन वे सब तो छिलके हैं। वे हमारा सत्त्व नहीं।

इसे विज्ञान ने भी पकड़ लिया है। शरीर के भीतर की विचार काया —ऊर्जा काया तक के फ़ोटो लिये गये हैं। मृत्यु की व्याख्या भी बदल गई है। यह केवल ग्रन्थों की बातें नहीं। अमेरिका में 'Psychic research behind the iron curtain' के प्रसिद्ध लेखक से बातचीत हुई, उन्होंने विचारकाया के भीतर की ऊर्जाकाया के photos देखे हैं। शरीर की मृत्यु के बाद भीतर चलते विचारों की गति २४ घण्टे तक कायम थी—उसकी 'मूवी' (Movie) ली गई। उस विचारकाया के भीतर की ऊर्जा काया में ३६ घण्टों तक गति फोटो में आई। अभी उनको लगता है कि यह ऊर्जाशरीर भी अन्तिम नहीं, इस के भीतर और भी शरीर होंगे। इसलिये किसी भी व्यक्ति का शव यदि ३६ घण्टे से पहले दफ़ना या जला देते हैं, तो वह मरने से पहले ही दफ़नाया—जलाया गया मानना चाहिये। अब cold storage में शव को रख कर, उसके फिर से अनुप्राणित होने की सम्भावना वैज्ञानिक मानने लगे हैं। उस दिशा में प्रयोग हो रहे हैं।

मैं कहना यह चाहती थी कि वह जो चरम सत्ता है, वह सर्व में ओतप्रोत है यानी मनुष्य के भीतर भी है। उसे आत्मतत्त्व कहिये, भगवत्सत्ता कहिये, महाशक्ति—महालक्ष्मी—महाकाली—महासरस्वती कहिये, ईश्वर कहिये। नाम कुछ भी दीजिये। हमारे रामकृष्ण देव उसे 'माँ' कहते थे—'माँ आमि यन्त्र तुमि यन्त्री!' —यह केवल भावुकता नहीं थी। यह तो उन का जो संवाद उस सत्ता के साथ सध गया था, उसके कारण कहते थे।... तो जीवनसत्ता सब में ओतप्रोत है, सदा अखण्ड है, —यानी जनमने और मरने में जीवन का प्रारम्भ और अन्त नहीं है, जन्म—मृत्यु के बिन्दुओं से जीवन की एकरसता अखण्डितता बाधित नहीं होती।

ऐसी दिव्य अखण्ड सत्ता को जिसने मनुष्य के भीतर स्वीकार किया, वह किसी को शत्रु मानेगा ? किसी को मार डालने से समस्या का निराकरण होता है ऐसे भ्रम में रहेगा ? वह रह नहीं सकता। उस के जीवन का मूल्याङ्कन बदल जाता है। अध्यात्म कहता है-'चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्'—इस का स्वीकार क्या हम करते हैं ?

यह यदि स्वीकार करेंगे तो फिर शिक्षण का स्वरूप बदलेगा। ३६ वर्षों से शिक्षण के नाम पर जो तमाशा चल रहा है भारतवर्ष में— विद्यालयों—महाविद्यालयों—विश्वविद्यालयों में, सब कुछ इतना अव्यवस्थित और अराजकता से भरा हुआ है कि इस का कोई विकल्प खोजना पड़ेगा।... स्वामी विवेकानन्द कहा करते थे-'Education is for manifestation of divinity' —भीतर समायी हुई जो परम दिव्य सत्ता है वह मानवीय सम्बन्धों में कैसे प्रगट हो, व्यवहृत हो— उसमें मदद करने के लिये शिक्षण है।..., यदि इन दो तथ्यों का स्वीकार हृदय में हो कि जीवन एक है और हम—सब परस्पर सम्बन्धित हैं, तो इन पर आधारित कोई व्यवस्था करेंगे, तब काम होगा। जब तक वैचारिक अव्यवस्था, भावनाओं—संवेगों की अराजकता चित्त में पड़ी है, तब तक संघर्ष—तनाव खड़े होंगे, परस्पर विरोधी दिशाओं में खींचने वाली महत्त्वाकांक्षायें चित्त को ग्रसित करती रहेंगी, ईर्ष्या—द्वेष—क्रोध आदि विध्वंसक भावनाओं का ताण्डव चलेगा। इन में व्यवस्था कौन पैदा करेगा ? आज मनुष्य शिकार है विचार—विकारों का। अतः विचारों से पृथक् जो शक्ति है वही व्यवस्था लायेगी विचारों में। फिर विशद विचार विकारों में व्यवस्था पैदा कर लेंगे। सूक्ष्म—सूक्ष्मतर शक्तियाँ अपने से स्थूल स्तर में व्यवस्था करती चली जाती हैं।

अध्यात्म है वह जीवन—विज्ञान, जो जीवन की यथार्थता को समझने और समझपूर्वक उसे जीने में हमारी मदद करता है। विज्ञान का कार्य है सत्य का दिग्दर्शन करना, स्वरूप समझा देना। उस के प्रति चलना— न चलना मनुष्य की मर्जी की बात है। अध्यात्म कोई अनिवार्यता या दबाव पैदा नहीं करता कि ऐसा नहीं करोगे तो नरक में जाओगे, करोगे तो स्वर्ग मिलेगा— आदि। यहाँ कुछ कमाने की बात नहीं। कमाने-गँवाने की सनसनी धर्म के क्षेत्र में है कि पुण्य कमाओ स्वर्ग मिलेगा, पाप करोगे तो नरक—कष्ट भोगना पड़ेगा, दान धर्म से पाप टलेंगे, प्रतिष्ठा कीर्ति मिलेगी इत्यादि...। अध्यात्म में यह सब नहीं, जीवन की समग्रता में कैसा नरक और कैसा स्वर्ग ? यहाँ पाप क्या और पुण्य क्या ? जो भी करोगे उसका फल भोगना ही होगा।

As law respects no person. Truth respects no definitions & divisions.

ऐसी एक अद्‌भुत वस्तु इस देश में उपजी और उस के आशिक भी पैदा हुए । उन्हों ने प्रयोग किये उस सत्य को खोजने के लिये । उस में से आये वेद-उपवेद-उपनिषद् और षड्‌दर्शन-न्याय-वैशेषिक, साङ्‌ख्य-योग, मीमांसा-वेदान्त । उस में से फिर साधना के पथ निकले । [सब आज भारत में उपलब्ध भी नहीं, वेदों-उपनिषदों का मौलिक अध्ययन करना हो, मूल-ग्रन्थ देखने हों तो जर्मनी जाना पड़ता है । कुछ वर्षों बाद आयुर्वेद का अध्ययन करने के लिये भी योरप जाना पड़ेगा । क्यों कि आयुर्वेद के ग्रन्थों की पाण्डुलिपियाँ यहाँ से खरीद-खरीद कर वहाँ के लोग ले जा रहे हैं और यहाँ के लोग गरीबी तथा अविवेक के मारे ४-५ हजार रुपये ले कर सुश्रुत-वाग्भट आदि के अमूल्य ग्रन्थ बेचते चले जा रहे हैं । देश के शिक्षाविभाग या सरकार को इस देश की सारस्वत निधि की परवाह ही नहीं ।]

हठयोग, नादयोग, लययोग, राजयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग-मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र...पता नहीं कितने साधना के पथ बने । सभी पथों की मञ्जिल रूप सत्य एक है—जीवन की एकता । और मनुष्य केवल एक विचारशील सामाजिक प्राणी (material, rational social animal) मात्र नहीं, वह भगवत्सता का सब से अधिक विकसित और मुखरित रूप है । इस से जिन को मतलब हो, उनके लिये ध्यान का अभ्यास या साधना संगत बनती है । जिन को संसारी बने रहते हुए अधिक से अधिक सुख चाहिये, उन्हें अध्यात्म नीरस लगेगा । शरीर और मन को अनुकूल लगने वाली संवेदना सुख है और प्रतिकूल संवेदना को दुःख कहा गया है । अध्यात्म तो आनन्द दे सकता है, जो सुख-दुःख से विलक्षण है ।

धर्म के क्षेत्र से अध्यात्म का विषय सर्वथा पृथक् है । यहाँ प्राप्त करने का कुछ नहीं, बस समझ लेने का है । समझने से अज्ञान का अँधेरा और बोझ दूर होता है । चित्त में एक हलकापन आता है । एक आलोक एक प्रकाश का आनन्द अन्तर में भरा रहता है । यह समझ का आलोक सूर्य-चन्द्र के आलोक से बिल्कुल अलग है । समझने की शक्ति के रूप में परमात्मा की विभूति हम सब के भीतर विराजमान है । इस समझ के लिये ग्रन्थ पढ़ने की जरूरत नहीं है । गाँवों में जिन्हें आप निरक्षर गँवार कहेंगे ऐसे लोग भी समझ सकते हैं । यह समझने की सम्भावना जो प्रत्येक के हृदय में है, यही परमात्मा का रूप है—'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति—'भूतमात्र के हृदय में मैं बसता हूँ'—यह जो प्रतिज्ञा है प्रभु की, उसके अनुसार समझ-शक्ति के रूप में ही वे सब में विराजते हैं ।

समझने से जो अज्ञान का अन्धकार हटता है, स्वाधीनता का अनुभव होता है, हलकापन लगता है इस से आनन्द रहता है। समझ और आनन्द एक साथ रहते हैं (चित्+आनन्द)। सुख और अज्ञान के साथ, भ्रम के साथ भी रह सकता है। लेकिन The clarity of understanding and the bliss of joy go together.

जब भीतर यह भान और श्रद्धा हो कि—"मैं आत्मा हूँ, जीवन की जो सर्वव्यापिनी सत्ता है उस का ही अङ्ग मैं हूँ। जहाँ मेरी शक्ति कम पड़ेगी वहाँ विश्व में व्याप्त परम शक्ति मेरी मदद में दौड़ सकती है यदि मैं अभिमुख हो जाऊँ"। 'वह है' इसका भान हो, 'वह मदद करे'–ऐसी मेरी अभिमुखता हो, मदद स्वीकारने की मुझ में नम्रता हो तो वह सहाय कर सकती है। 'उपद्रष्टा-ऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः' –पास खड़ी हो कर देख रही है वह शक्ति, हम ग्रहण के लिये तत्पर हों तो वह हम में प्रवेश करेगी, काम करेगी और करवा लेगी"—तो आत्मबल जागृत होगा, जिस की आज बहुत जरूरत है भारतवर्ष को। जो विराट् समस्यायें हमारे सामने खड़ी हैं, उनका मुकाबला दूसरे किसी बल से नहीं हो सकता। हिंसा का सामना करने के लिये जिस अहिंसक जनशक्ति को जगाना है, उस का स्रोत आत्मबल ही है।

मार्च १९८३ में मैं लेटिन-अमेरिका में थी। चिली देश की राजधानी सान्तियागो में शिबिर चल रहा था, वहाँ अर्जेण्टीना, ब्राज़ील आदि समीपवर्ती चार देशों के लोग एकत्र हुए थे। वे सब मिल कर एक ही सवाल पूछते थे मुझ से कि—"१८१५-१६ में जब आपका देश नंगा-भूखा-गुलाम था, तब अफ्रीका से वहाँ आकर गांधीजी ने क्या किया? How he could develop an alternative non-violent force against the violence of the British regeime? ब्रिटिशों के पास तो हिंसा की बहुत बड़ी ताक़त थी और दूसरी तरफ़ ये निरक्षर भूखे-नंगे लोग थे। उस हिंसा का मुकाबला करने के लिये इन लोगों में अहिंसक जनशक्ति कैसे प्रगट कर सके गांधीजी?"

मैंने उन से पूछा कि आप को इसकी क्या जरूरत आ पड़ी है? (अभी 'गांधी' फिल्म भी वहाँ पहुँची नहीं थी।) उन्होंने कहा "हम तानाशाही शासनों से थक गये हैं। २० वर्षों से हमारे देश में तरह-तरह की तानाशाही चल रही है। कभी 'क्रिश्चियन्स्' की, कभी मिलिटरी की, कभी कम्युनिस्टों की तो कभी और कोई। एक तानाशाही जाती है दूसरी आ जाती है। उनकी भीड़ और दबाव में हम थक गये हैं।... अब मन में आता है कि इस का मुकाबला अब अहिंसक पद्धति से करना चाहिये। हमें तो पता भी नहीं कि अहिंसा क्या

होती है? We have not learnt the ABC of non-violence. (हमने अहिंसा का 'क ख ग' भी नहीं सीखा है।) इसलिये जानना चाहते हैं कि गांधीजी ने यह कैसे किया?"

मैं ने कहा कि इस देश की मिट्टी के कण-कण में हजारों वर्षों से भगवत्सत्ता का मूक स्वीकार पड़ा हुआ है। यह है हमारे नंगे-भूखे निरक्षर लोगों के भीतर पड़ी हुई शक्ति, जिन्हें पेड़ के नीचे रहना और दिन में एक बार खाने को सूखे दाने भी मुश्किल से मिल पाते हैं। -इसी बल को गांधीजी ने जगा दिया था अपनी श्रद्धा से।

वह भगवत्सत्ता का स्वीकार आज के शहरों में और तथाकथित सुशिक्षितों में नहीं मिलेगा। कटी पतंग जैसी दशा आज भारत की शहरी जनता की हो गई है, अपनी सनातन संस्कृति में से इन की जड़ें उखड़ गई हैं। लेकिन, पिछले ३-४ वर्षों से यहाँ के १२ राज्यों (प्रदेशों) के देहातों मे घूमते हुए मैं देख रही हूँ कि भले ही राजनैतिक एवं आर्थिक स्वार्थान्धों द्वारा भाँति-भाँति से उनका शोषण हुआ है और जातिवाद, कौमवाद, 'अल्पसंख्या'-वाद आदि नामों से भड़काये, उकसाये गये है, डराये-धमकाये या ललचाये गये हैं, -तब भी देहाती जनता के भीतर आज भी भगवत्सत्ता का स्वीकार पड़ा है। वह जब तक है तब तक इस देश की संस्कृति को कोई नष्ट नहीं कर सकेगा। वह स्वीकार जब होता है तभी मनुष्य के भीतर से आत्मबल को प्रगट करना सम्भव होता है।

मित्रो! आप में-हम में कहीं न कहीं हृदय के कोने में वह स्वीकार अवश्य पड़ा होगा। आज भूल गये हैं हम उसे। उन की जो आवाज़ आती है भीतर से, उसे दबा देते हैं हम। लेकिन भगवत्सत्ता की सर्वव्याप्ति का स्वीकार अवश्य है हृदय में। यही मेरी आशा है जो मुझे दूर-दूर घूमने के लिये, सब से बात कर के उस स्वीकार का इज़हार करने के लिये प्रेरणा और शक्ति देती है।

जीवन के उस चरम सत्य का उद्घोष पीरों फकीरों-पैगम्बरों ने, सन्तों -योगियों ने अपनी-अपनी भाषा-शैली में किया है। तुलसीदास कहते हैं-

सियाराममय सब जग जानी।
करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी।

[यह जीवन की एकता का उद्घोष नहीं तो क्या कोई सिनेमा का गीत हैं?]

गुजरात के नरसी मेहता गाते हैं—

'अखिल ब्रह्माण्ड माँ एक तूं श्रीहरि! जूजवे रूपे अनन्त भासे'.....

घाट घडिया थकी नाम रूप जूजवा अन्ते तो हेम नुं हेम होये ।'

—'हे श्रीहरि समस्त ब्रह्माण्ड में एक तुम ही तो हो–अनन्त ! नाना रूप धारण कर के दिखाई दे रहे हो ! वृक्ष में तुम हो फिर बीज में वृक्ष को समेटे तुम्हीं विराजते हो...अरे सुवर्ण से तरह तरह के नाम–रूपों वाले अलङ्कार बनाते हैं–कर्णफूल–अंगूठी–हार–कंगन–कटिमेखला आदि–पर असल में तो सब सुवर्ण ही है ।... सागर–सरिता–सरोवर अलग–अलग कहे–देखे जाते हैं, अरे एक–एक में असंख्य लहरें इठलाती-इतराती उठती–मिटती रहती हैं, जरा हाथ में लेने जाओ तो सब में जल ही हाथ आता है । .. दक्षिण भारत में त्यागराज हुए, आण्डाल हुईं, उड़ीसा में जगन्नाथदास का भागवत, आसाम में माधवदेव शङ्करदेव का नाम-घोषा, पंजाब में नानकशाह की वाणी, राजस्थान में मीरा, उ.प्र. में सूर-कबीर-तुलसी, बिहार में विद्यापति और बंगाल में चण्डीदास कहीं कोई ऐसा सन्त नहीं जिसने जीवन की एकता का गान न गाया हो । इसीलिये इस धरती में संस्कार पड़े हैं । वे दब गये हैं, उनकी उपेक्षा हुई है । उन उपेक्षित संस्कारों को ऊपर लाना है । उनके आधार पर मनुष्य का जीवन बने, समाजरचना बने । ऐसी सम्पूर्ण क्रान्ति व्यक्ति और समाज के जीवन में अध्यात्म के आधार पर आनी चाहिये ।

ऐसे एक क्रान्तिकारा विज्ञान को इन चार दिनों में सभी दृष्टिबिन्दुओं से देखेंगे । उसमें 'ध्यान' क्या है ? उसका जीवन जीने में कहां कैसा सम्बन्ध आता है ? मनुष्य अपनी देहपरायणता से आगे कैसे बढ़े ? मन को कैसे समझे ? मन और बुद्धि की संरचना कैसी होती है ? उन से परे कैसे जाया जाता है ? उनसे परे जाने के बाद जो आयाम है जीवन का, उसमें मनुष्य कैसे पहुँचता है ? वहाँ पहुँचने पर फिर उसका समाज में व्यवहार कैसे बदलता है ? यह सब हमें देखना है ।

अध्यात्म नाम के जीवन-विज्ञान ने मनुष्यजीवन का एक बहुत ही अनोखा प्रयोजन भारतीय जनता के सामने रख दिया है । **'योगी भवार्जुन !'** योगावस्था तक पहुँचना मनुष्यजीवन का लक्ष्य है—यह संकेत दिया है । हमारे भीतर जो दिव्यता की सम्भावना पड़ी है वह योगावस्था के आयाम तक, विनोबाजी का प्रिय शब्द लेना हो तो ब्राह्मी दशा तक पहुँचा देगी ।

'एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ ! नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥'

ब्राह्मी विद्या की आराधना में विनोबा जिये और मनुष्य ब्रह्म निर्वाण कैसे उपलब्ध करता है यह हमें दिखाया । मृत्यु के सामने जाकर अपनी देह कैसे अर्पण की जा सकती है यह सिखाया ।

यह जो योगावस्था या ब्राह्मी दशा है उस का सार कहा गया समत्व । **'समत्वं योग उच्यते'** चित्त की समता और इन्द्रियों में सन्तुलन । कब ? व्यवहार में, सम्बन्धों में रहते हुए । अकेले में तो समता–विषमता का सवाल ही असंगत है । व्यवहार करते हुए चित्त का समत्व कायम रहे, और इन्द्रियों का सन्तुलन कायम रहे । बाहर सन्तुलन कभी च्युत न हो,भीतर अक्षोभ्य अवस्था बनी रहे, चित्त चलित न हो,—ये दोनों मिल कर योगावस्था है।

मनुष्यजीवन का यही प्रयोजन अध्यात्म द्वारा उपलब्ध होता है, इसलिये आत्मबल भारत की राष्ट्रीय आवश्यकता है । आत्मबल द्वारा समाज-परिवर्तन कैसे हो सकता है, इसकी शोध करना—यह राष्ट्रधर्म हैं । इसलिये अध्यात्म की बात प्रासङ्गिक है । यह नहीं कि राष्ट्र की समस्याओं को भूल कर ध्यान और समाधि में पड़े रहना है ! सविकल्प-निर्विकल्प-सबीज-निर्बीज समाधियों की चर्चा के लिये अध्यात्म नहीं है । अध्यात्म में मानवविमुखता और समाज-विमुखता सम्भवित नहीं है । वह यदि आती है तो एक नये प्रकार का वैयक्तिक भोगवाद—जिसे 'बाबूजी'ने आध्यात्मिक पूंजीवाद कहा, वही खड़ा होता है । पहले ही उससे ग्रस्त है यह देश । उसमें से मुक्त होना है ।

'बाबूजी'—श्र० रामनन्दन मिश्रजी—के प्रवचन परिशिष्ट में प्रस्तुत हैं । यहाँ उद्घाटन–प्रवचन का सन्दर्भ है ।

ॐ

द्वितीय प्रवचन

दि. २१/२/८४ अपराह्न ४ बजे

देश के विभिन्न प्रान्तों में घूमना होता है, तब सभी जगह लोग चिन्तित नजर आते हैं कि इतना भ्रष्टाचार है, इस में कैसे जिया जाय ? सामान्य जनता से लेकर नेताओं तक, अग्रणियों तक, शासक वर्ग तक एक ही बात चलती है कि ऐसे नैतिक अध:पतन में से देश ऊपर कैसे उठेगा ?

हमारी दृष्टि से समस्याओं का समाधान अध्यात्म में से मिलेगा । नैतिक पुनरुत्थान का उपाय आत्मबल की साधना में से आयेगा । लेकिन अभी हमें यह सोचना है कि नैतिक अध:पतन हुआ क्यों ? कैसे हुआ ? स्वाधीनता पाकर ३५–३६ वर्षों में ही राष्ट्रजीवन इतने नीचे क्यों उतर आया ? थोडे से ही लोग भ्रष्ट होते, भ्रष्टाचारी, अनाचारी, दुराचारी होते और बाकी बहुसंख्यक जनता के हृदय में सत्य-न्याय-धर्म-प्रेम की प्रतिष्ठा होती, तो समस्या का समाधान करना या होना मुश्किल न होता । लेकिन १०० में ९९ व्यक्तियों के चित्त में से उक्त जीवनमूल्यों की प्रतिष्ठा उठ गई है । भगवान् का स्वीकार नहीं है । हम भूल गये हैं कि हम भारत की सन्तान हैं । यह आत्मविस्मृति और अपनी संस्कृति का विस्मरण ही विपदा है ।

उसमें भी फिर जो आस्तिक कहलाने वाले, अपने आपको धार्मिक समझने वाले लोग हैं, उनकी जिम्मेवारी तो और बढ़ जाती है । यह अध्यात्म की अनिवार्यता का दूसरा पहलू है । इस देश में ९९% लोग धार्मिक हैं । मन्दिर–मस्जिद-देरासर-गुरुद्वारे-आश्रम-मठ-बौद्धविहार असंख्य हैं और नये-नये बनते रहते हैं । जगह-जगह भागवत-रामायण-ग्रन्थसाहब आदि के पारायण, कथायें, व्याख्यान, भजन-कीर्तन होते रहते हैं । लेकिन उस भगवत्सत्ता का जीवन-व्यवहार में कहीं अनुबन्ध नहीं । हमने जीवन को बाँट दिया है कि यह हमारा धार्मिक जीवन है, उसमें मन्दिर आदि में बैठकर घण्टे-दो घण्टे भजन करना है । लेकिन बाकी जो हमारा व्यवहारगत जीवन है उसमें तो झूठ बोलना ही पड़ेगा । बच्चों से, घर के लोगों से अपेक्षा रखेंगे कि वे झूठ नहीं बोलें, चोरी नहीं करें । और हम घर से बाहर निकलते हैं तो यह मान कर चलते हैं कि नौकरी-धन्धे में झूठ के बिना काम नहीं चलेगा । सत्य से काम नहीं बनते । और बहुत आसानी से वहां झूठ, रिश्वत लेना-देना, अधर्म-अन्याय चालबाजी सब करेंगे ।—ऐसे मन्दिर के लिये एक, घर-परिवार के लिये दूसरी

और व्यवसाय में तीसरी आचार-संहिता और मूल्याङ्कन होंगे। व्यवसाय और समाज में परिग्रह स्पर्धा, ईर्ष्या का महत्व है, फिर राजनीति में तो द्वेष-क्रोध-हिंसा भी क्षम्य ही नहीं आवश्यक माना जाता है।

सुबह उठ कर प्रार्थना में हाथ जोड़ कर कहा 'प्रभु आप अन्तर्यामी हैं। घट-घट वासी हैं, सर्वत्र हैं।' वही व्यक्ति दुकान-फ़ैक्टरी-ऑफिस में झूठ बोल कर अन्याय का पैसा कमाने में हिचकते नहीं, और राजनीति के नाम पर द्वेष क्रोध, हिंसा पर भी उतर आयेंगे—तो उनका व्यक्तित्व कैसा होगा? छिन्न-भिन्न (Schizophranic) हो जाता है व्यक्तित्व! मनुष्य समग्र नहीं रह पाता, सम्पूर्ण नहीं रहता। ९९% लोगों ने यही स्वाभाविक मान लिया, जीवन की अखण्डितता का स्वीकार नहीं किया, उसे खण्डों में बाँट कर परस्पर विरोधी मूल्य बना लिये। तो समाज कैसे बनेगा?

साम्यवादियों ने एक प्रयत्न किया मस्तिष्क में आदर्श-सिद्धांत-विचार भर दे कर मनुष्य की वृत्ति बदलने का—To charge the attitude towards moneyownership & property लेकिन इससे भी वे संग्रह-स्वामित्व और धनलालसा को चित्त से निकाल नहीं पाये। जाहिर है कि केवल विचार के आधार से ऐसे संस्कार बदलते नहीं हे। वही चीन में हुआ। भारत में गांधीजी के साथ भी वही हुआ। स्वाधीनतासंग्राम में जिन्होंने त्याग-बलिदान किया था ऐसे ही साथियों के हाथ में जब सत्ता और सम्पत्ति आयी तो स्वार्थ हावी हो गया। गांधीजी अलग रह गये, सर्वोदय अलग रह गया। गरीबों की गरीबी मिटाने की और भङ्गी की लड़की को राष्ट्रपति का स्थान देने कीसब बातें अलग रह गईं। 'मैं' 'मेरा' 'मेरा कुल' 'मेरी जाति' 'मेरी भाषा' 'मेरा धर्म-सम्प्रदाय —ऐसे नामों पर भाई-भतीजावाद और 'मैं' वाद ही फैलता गया।

तात्पर्य यह है कि अपना जो जीवन—बीज है परम सत्य, भगवत्सत्ता, जीवन की एकता—उसे हम खण्डित न करें, उसे टुकड़ों में बांटने के प्रयत्न से ही सब अनर्थ उपजते हैं। जन्म और मृत्यु के दो बिन्दुओं के बीच हम खड़े हैं, कर्म करते हुए जीना, कर्म के द्वारा चित्त-शुद्धि, जीवनशुद्धि साधते हुए अंतर्बाह्य समता—सन्तुलन यानी योगावस्था में जी सकना—यही मनुष्यजीवन का प्रयोजन है।

जहाँ व्यक्ति सन्तुलित होंगे, आत्मानुशासित होंगे, वहाँ बाहरी शासन घटता ही जायेगा। 'That government is best, which governs least' —वही सरकार उत्तम है जो कम से कम शासन करे। लेकिन वह परिस्थिति तब आती है जब व्यक्ति स्वयं शासित हों, ग्राम स्वयं शासित हों। गाँवों के लोग साथ बैठकर आपस में अनुशासन पैदा कर लेंगे, व्यक्ति आत्मानुशासित होंगे।

तब कहीं लोकतन्त्र का लक्ष्य–कम से कम शासन करनेवाली सरकार–बनेगी।... वह बन नहीं पाता है क्यों कि लोग समस्याओं को ऊपर से देखते हैं कि राजनीति में या विभिन्न पदों पर बैठे व्यक्ति खराब हैं और हम दूध के धुले हैं– ऐसे भ्रम में रहते हैं। मै यदि एक बहन के नाते झकझोर कर अपने देशवासी भाई–बहनों को इतनी याद दिला सकूँ कि मुठ्ठीभर व्यक्ति भ्रष्ट नहों, हम सब के जीवन से नैतिक मूल्यों का महत्त्व, अनुशासन का महत्त्व हट गया है इसलिये पतन है देशका! तो सुननेवाले सैकडों में से १०–२० को तो लगेगा कि हाँ, यह बात सही है। फिर लाचारी की, असहायता की भावना नहीं आयेगी, जो आज जहाँ जायें वहाँ सुनाई पड़ती है—'बहनजी! इस देश में अब कुछ नहीं होने का! इसकी उन्नति नहीं हो सकती!' अरे भाई! क्यों नहीं हो सकती? ७० करोड़ जनसंख्या है–अपार मनुष्य–बल–पशुबल और प्रकृति की संपन्नता है। कमी है केवल अपने-अपने जीवन को अपनी सनातन संस्कृति से जोड़ने की।

मेरे चित्त में निराशा नहीं है, क्योंकि मैं मानती हूँ कि भारतीय जनता के हृदय में कहीं न कहीं मूक अभीप्सा पड़ी है–'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की। भगवत्सत्ता के स्वीकार के संस्कार पड़े हैं। उनको यदि जागृत कर दिया जाय तो जीवन की रीति-नीति–पद्धति बदलने में वे सफल होंगे।...अध्यात्म की बात आज की गंभीर परिस्थिति में इसीलिये करने आये हैं कि कानून से या बन्दूक की गोली से परिस्थिति को बदला नहीं जा सकता, हृदय नहीं बदले जा सकते, मान्यताओं व धारणाओं से चित्तों को मुक्त नहीं किया जा सकता। उस के लिये शस्त्रबल के, राज्यबल के प्रयोग हो चुके। पर बात बन नहीं पायी। इसलिये गांधीजी ने रास्ता दिखाया था–अपने जीवन को साधना का क्षेत्र बनाना। घर से हट कर, पत्नी–बच्चों को छोड़कर, नौकरी छोड़कर, कहीं एकान्त में जा कर साधना करने की बात नहीं है, जहाँ बैठे हैं, जहाँ रहते हैं वहाँ ही कर्म-शुद्धि करनी है, उसके द्वारा जीवनशुद्धि करनी है।

इसकी आवश्यकता जिनको प्रतीत होती है, जिनको लगता है कि हम भी जिम्मेवार हैं परिस्थिति के प्रति, केवल दूसरे नहीं,—उनसे मैं बात करना चाहती हूँ। उनके लिये ही मेरे प्रवचन होंगे या प्रश्नोत्तरी होगी।...मान लीजिये कि यहाँ बैठे हुए व्यक्तियों की समझ में यह बात आ गई कि हम जिम्मेवार हैं अपने और समाज के जीवन के लिये। सारा जीवन ही साधना का क्षेत्र है। धर्म या अध्यात्म का क्षेत्र केवल हमारे बनाये मन्दिर की चारदीवारी नहीं, सारा संसार प्रभु का मन्दिर है। काया–वाचा–मनसा हम जो भी कर्म करेंगे। वे या तो साधना बनेंगे या हमको बाँधनेवाले बन्धन बनेंगे। कर्म को बन्धन

कारक बनाना या मुक्तिदायक बना लेना अपने हाथ में है। कर्म कैसे मुक्तिदायक बन सकते हैं यह देखना है, सीखना है। प्रत्येक व्यक्ति के कर्म में खण्डितता न रहकर अखण्डितता आवे, प्रत्येक कर्म बन्धन का ताना-बाना बुनने के बदले मुक्ति की तरफ़ ले जावे—तभी राष्ट्र की समस्या का निवारण हो सकेगा।

आप कहेंगे कि सामाजिक क्रान्ति आर्थिक क्रान्ति नहीं करनी पड़ेगी?—भाई, ज़रूर करनी पड़ेगी। पर वह करेगा कौन? जिन के चित्त में निस्पृहता नहीं है, सत्ता सम्पत्ति—प्रतिष्ठा का लोभ पड़ा है, स्पर्धा—ईर्ष्या—द्वेष की अग्नि पड़ी है, वे लोग करेंगे समाज परिवर्तन?...आदर्शों की तो कमी नहीं संसार में। समाजवाद, साम्यवाद के आदर्श तो बुरे नहीं हैं। शोषणमुक्त समाजरचना का सपना कौन नहीं देखता है आज? इतनी सारी योजनायें हैं-खादी की योजना, ग्रामोद्योग की योजना, सम्पूर्णक्रांति की योजना। **कमी नहीं है आदर्शों की** सिद्धान्तों की योजनाओं की! **आदमी का अभाव है**। ७० करोड़ की जनसंख्या में मनुष्य और मनुष्यता का अभाव है।

जो जो क्रांति करने गया वह क्रांति सफल होने पर प्रतिक्रांतिकारी बना है। क्योंकि समाजपरिवर्तन होने के साथ-साथ अपना भी परिवर्तन होना चाहिये इस तथ्य की तरफ़ ध्यान नहीं गया। इसलिये एक अभिनव परिवर्तन—प्रक्रिया की बात करने आई हूँ जिस में समाज-परिवर्तन और व्यक्ति-परिवर्तन की प्रक्रियायें साथ-साथ चलेंगी। अध्यात्म में समग्रजीवन का संबन्ध आता है। यहाँ जीवन को बाँटा नहीं जा सकता कि 'यह कौटुम्बिक है यह राजनैतिक या व्यावसायिक है और यह धार्मिक है।' सारे जीवन का अपने अधिष्ठान के साथ अनुबन्ध रखते हुए कर्म करना पड़ता है।...इतनी बात स्पष्ट हुई हो तो आगे चलिये।

अब यह 'जीवन जीना' क्या चीज़ है? 'जीने का कर्म' कहने में क्या अभिप्राय है, इसे देखें। जीवन को अनेक दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है। एक तो, जीवन में कुछ **व्यक्त है कुछ अव्यक्त** है। जो यह नामरूपात्मक संसार है वह व्यक्त है। जिस में पदार्थ हैं, आँखों से देखा जाय, कान से सुना जाय, नाक से सूंघा जाय, हाथ से स्पर्श किया जाय—पकड़ा जाय—ऐसे पञ्चेन्द्रियों की पकड़ में जो आ सकता है वह है व्यक्त जगत्। इन्द्रियों को सिखाना है कि इस व्यक्त जगत् के साथ व्यवहार कैसे करना कि बाहर सन्तुलन न छूटे और भीतर (चित्त में) क्षोभ न हो, समत्व बना रहे।

इस व्यक्त के पीछे है अव्यक्त। उसे कैसे समझेंगे? जल दिखता है न! उसमें व्याप्त विद्युत्शक्ति आँखों को दिखती नहीं, लेकिन मन और बुद्धि का विनियोग करके, वैज्ञानिक प्रयोग करके उस शक्ति को प्रकट किया जा सकता है, काम में

लिया जा सकता है। व्यक्त के साथ सम्बन्ध होता है बाहरी इन्द्रियों के द्वारा और अव्यक्त के साथ सम्बन्ध है मन-बुद्धि के द्वारा। पृथ्वी जड़ दिखती है, पर पृथ्वी में एक कण डालने पर वह एक मन कर के लौटाती है यह तो खेती करने पर पता चला है। सम्बन्ध, प्रयोग, फिर अनुभूति यह क्रम है। अव्यक्त के साथ मन द्वारा सम्बन्ध, बुद्धि द्वारा प्रयोग होते हैं। प्रयोग से जो अनुभव आते हैं उसके आधार पर निष्कर्ष बनते हैं। व्यक्त और अव्यक्त (The manifest & the unmanifest, the visible & the unvisible) की अनेक शक्तियों को मनुष्य ने खोज निकाला है। और भी अनेक शक्तियाँ अव्यक्त हैं, जिन को मनुष्यजाति खोज निकालेगी।

इन व्यक्त और अव्यक्त के पीछे खड़ा है **अनन्त**। पदार्थ व्यक्त है, उस में निहित शक्तियाँ अव्यक्त हैं, और उन शक्तियों के भी पीछे जो उन्हें (शक्ति तथा पदार्थ को) धारण करनेवाली सत्ता है वह अनन्त है। तो, अनन्त में है सत्ता, अव्यक्त में हैं शक्तियाँ और ऊर्जायें, तथा व्यक्त है—इन्द्रियगोचर जगत्।—ऐसे जीवन के तीन अवयव हुए। इन तीनों के साथ परिचय पाना, तीनों से सम्बन्धित होना, तीनों के साथ सहयोग करना, संवाद साधना—यह जीवन जीने के कर्म का एक अर्थ हुआ। व्यक्त के साथ इन्द्रियाँ हुईं, अव्यक्त के साथ मन-बुद्धि रहे। अब अनन्त के साथ परिचय कैसे हो? सम्बन्ध कैसे बने।... मन और बुद्धि के मौन होने के बाद ध्यानावस्था में अनन्त के साथ संबन्ध आता है। **व्यक्त के साथ का सम्बन्ध अव्यक्त से अविरोधी** होना चाहिये और इन **दोनों के साथ जो सम्बन्ध हो वह अनन्त के साथ संवादी होना चाहिये।**

जीवन का दूसरा पहलू है-गति और स्थिति। गति से तो सभी परिचित हैं; पर स्थिति भी जीवन का ही अंग है। स्थिति यानी गतिमुक्त होनापन। (motionfree isness) यहाँ ग्रन्थों की बात नहीं रखनी है, जीवन में देखिये। आप सोते हैं, शरीर बिस्तर पर पड़ा है, निःस्वप्न निद्रा है, तब मन भी चल नहीं रहा है, स्थिर-शान्त हो गया है। निर्दोष गाढ़ सुषुप्ति में शरीर-मन-बुद्धि शान्त पड़े हैं। फिर भी जीवन तो है। जागृति में मन चलता रहता है निरन्तर। हमें लगता है कि मन नहीं चलेगा तो जिन्दगी ठिठक जायेगी। सुषुप्ति बतलाती है कि ऐसा नहीं। मन-बुद्धि के स्थिर होने पर भी जीवन रहता है।

ऐसे ही जागृति में और स्वप्न में भी हमारा सब व्यवहार, बोलना और विचार करना, स्मृति और कल्पना सब शब्दों द्वारा होता है। लेकिन केवल शब्द

में जीवन की समग्रता नहीं आती। शब्द कैसे पैदा हुआ ? कहां से पैदा हुआ ? यह खोजा गया तो पता चला कि ध्वनि में से–नाद में से शब्द बना है। By manipulating & engineering the sound man has created words & languages. शब्दों में से निरुक्त–छन्द–व्याकरण, भाषायें साहित्य, संगीत सब कुछ बनाया गया। शब्द आया नाद में से। वह नाद आया शून्य में से, और मौन में से। शब्द में जितना जीवन है उतना ही मौन में और शून्य में भी जीवन है। ऐसे ये भी दो पहलू हो गये–**शब्द और मौन।** (Word, sound & sound free silence.)

हमारा सम्बन्ध शब्द से है। वास्तव में वह भी पूरा नहीं। शब्द से सम्बन्ध साधना भी थोड़े ही लोग जानते हैं। जो जीवन में रुचि रखते हैं वे थोड़ी भाषाओं का परिचय पा लेते हैं, सुघड़ता से शब्दों का उपयोग करते हैं। सब लोग वह नहीं कर पाते। शब्द की सृष्टि बड़ी विशाल है। एक–एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ, रूढ़िगत अर्थ, यौगिक अर्थ, निरुक्त से प्राप्त अर्थ, व्यञ्जना का अर्थ, काकु से गम्य अर्थ—ऐसे अनेकों प्रकार से शब्द के अर्थ देखे जाते हैं। इन शब्द-अर्थ के साथ तो थोड़ा परिचय हो भी जाता है, लेकिन शब्द का मूल उद्गम जिस मौन में से हुआ, जिसमें जीवन का सत्त्व है उस मौन से हमारा कोई परिचय नहीं।

अब तीसरी तरफ से जीवन को देख लीजिये। सम्बन्धों में जीवन है वैसे एकान्त में भी है। बालक का जन्म होते ही सम्बन्धों का विश्व खड़ा हो जाता है–यह माता है–पिता है, नानी–दादी···हैं, चाचा–ताऊ–मौसी–फुआ···हैं, यह बहन है–भाई है। यह जाति है, यह धर्म है यह गोत्र है···इत्यादि अनगिनत सम्बन्धों के बीच जन्म होता है। देह के नाते सम्बन्ध स्वीकारने ही पड़ते हैं। बड़े हुए तो मित्र–सम्बन्ध बने। विद्यालय के सम्बन्ध आये। और बड़े हुए तो तो व्यवसायगत सम्बन्ध हुए–वकील हैं, डॉक्टर हैं, शिक्षक हैं, व्यापारी हैं, कारीगर हैं, किसान हैं, अधिकारी हैं या मातहत कर्मचारी हैं, मजदूर हैं–कुछ तो बनते ही हैं। वे भूमिकायें स्वीकारीं। फिर हिन्दू–मुसलमान–ईसाई हैं, भारतीय–ब्रिटिश रूसी–चीनी है (–देशगत भूमिकायें)–ऐसे उपाधियों की परतें चढ़ती चली जाती हैं। देह में रहने की इतनी कीमत हमें चुकानी पड़ती है।···इससे हम मान बैठते हैं कि सम्बन्धों में ही हमारा जीवन है। वही हमारा पूरा स्वरूप हैं। जैसे कि शब्दमय व्यवहार में ही अपने को देखा है मौन से परिचय नहीं, गति में खुद को देखा स्थिति में अपना सत्त्व नहीं देखा, वैसे ही सम्बन्धों में ही अपना जीवन माना, एकान्त में जो निरा अपना स्वरूप है उसको मनुष्य देखता नहीं। कभी एकान्त में निपट अपने आपके साथ बैठें और सोचें कि जब गहरी नींद में

सोये होते हैं तब तो कोई मुसलमान, हिन्दू या मालिक, मजदूर, व्यापारी या किसान, पिता–पुत्र, बहन–बेटी कुछ नहीं रहते। निद्रा सबकी समान है, क्रोध काम आदि विकार हैं, भूख–प्यास समान हैं।...जरा सब आवरण हटा कर अपने को देखे तो सही! सम्बन्धों और उपाधियों में जैसे अपना जीवन है, वैसे जीवन का दूसरा अंग है एकाकीपन। The aloneness, the solitude, एकाकिता। मरना तो आखिर अकेले ही पड़ेगा। 'भार्या गृहद्वारे, मित्रः श्मशाने देहश्चितायाम्...' साथ चलने वालों की मर्यादायें हैं। देह छोड़ कर जाना अकेले ही होता है। उस मरने से (या अकेलेपन से) डर इसीलिये लगता है कि जीतेजी एकाकी रहने की, अपने आप के साथ रहने की कला हासिल नहीं करते हैं। एकान्त के साथ भी परिचय होना चाहिये। निपट एकान्त में जहाँ कोई आपको पहचाने नहीं, आपका नाम लेकर बुलाने वाला भी कोई न हो–ऐसे स्थान में जाकर कभी कुछ दिन अकेले रहिये। मौन हैं, एकाकी हैं, कोई भूमिका नहीं है। वहाँ जो आपका उपाधिमुक्त खालिस होनेपना है, उसके साक्षात्कार में जीवन जीने का रहस्य छिपा हुआ है।

हमारा जीवन–कर्म अधूरा रहता है। गतिमुक्त स्थिरता से परिचय नहीं, शब्दमुक्त मौन को देखा नहीं, एकान्त और शून्य में निरे अपने आपको कभी पाया नहीं। जब कोई काम नहीं रहता, धन्धे से अवकाश में हैं, बच्चे बड़े होकर अपनी–अपनी दुनिया में बस गये हैं, घर का–नौकरी का–व्यवसाय का कुछ भी करने को नहीं है, बस चुपचाप रहना–जीना भर है–तब आदमी ऊब जाता है, घबरा जाता है। 'किसी को मेरी जरूरत नहीं? मैं निकम्मा हो गया अपने आपके साथ जी नहीं पाते। स्थिति के साथ, शून्य के साथ, निश्शब्द मौन में एकाकिता में जी नहीं पाते। ऐसे जीवन जीने का कर्म एकाङ्गी और अधूरा रह जाता है।

जीवन जीने के कर्म का यह दूसरा अर्थ हमने देखा। पहला यह देखा था कि व्यक्त–अव्यक्त–अनन्त तीनों के साथ जीना है। 'हम केवल व्यक्त के साथ जीयेंगे'–यह नहीं हो सकता। क्योंकि व्यक्त–अव्यक्त–अनन्त तीनों परस्पर गुंथे हुए हैं। दूसरी तरफ–**गति और स्थिति, शब्द और मौन, सम्बन्ध एकान्त**–इन दोनों में हमें जीना है। एक तरफ उलझना, अटकना नहीं है। कुछ लोग कहते हैं 'हमें अकेले रहना ही पसन्द है, मनुष्यों के बीच नहीं'।––वह भी जीवन नहीं। लोकान्त में होते हुए भी भीतर एकान्त है, कोलाहल में हैं फिर भी अन्दर मौन है; भीषण गति से प्रारब्ध घुमाता है, फिर भी अंदर से स्थिरता नहीं जाती यह है–'योगः कर्मसु कौशलम्'। वह कला पूर्वजों ने हमें सिखाई है।

जीवन जीने के कर्म के ये दो रूप यदि हमने समझ लिये तो कैसे जिया जाता है यह देखें। जीवन में यदि गति का प्रसङ्ग है तो उस गति के साथ लय में लय मिला कर चलना होगा। जहाँ गति की आवश्यकता नहीं, वहाँ स्थिर रहने की कला हमारे पास होनी चाहिये। जब बोलने की जरूरत हो तब ठीक से हम बोल सकें—यानी अल्पोक्ति नहीं, अतिशयोक्ति नहीं, सन्दिग्धता नहीं, अपनी प्रतिक्रिया से घटना को रँगना नहीं। ये सब (अल्पोक्ति, सन्दिग्धता आदि) असत्य के प्रकार हैं—बढ़ा—चढ़ा कर, नमक—मिर्च लगाकर कहना—अतिशयोक्ति है; अपने को जितना मतलब है, घटना का उतना ही भाग काट—छाँट कर थोडे में कहना, उतार कर कहना—अल्पोक्ति है। यदि लगता हो कि सच कहने से हम पकड़े जायेंगे तो सन्दिग्ध—गोल—गोल (non commital) बोलना। ठीक से बोलने का आशय है कि जब आवश्यकता हो तब, उक्त दोषों से—असत्य से रहित यथार्थ बोल सकें, जो भीतर हो वही भलीभांति बाहर व्यक्त कर सकें, और आवश्यकता न हो तब बहुत शान्ति से मौन रह सकें, वह हमें आता नहीं है, सीखना है।

अध्यात्म कहता है कि जीवन सन्तुलन में है। जीवन जीने के क्षण में यदि सन्तुलन चूक जाता है तो फिर वह कर्म किसी काम का नहीं। हम दिन भर मेहनत करते हैं, कोल्हू के बैल की तरह लगे रहते हैं, पसीना बहाते हैं, फिर भी वह 'कर्म' बन नहीं पाता, वह शक्ति—ओज—तेज नहीं दे पाता, क्योंकि उस कर्म में सन्तुलन नहीं है। **असन्तुलन ही अशुद्धि है**। Imbalance is impurity ऐसी सब अशुद्धियाँ फिर चेतना में गाँठें बना देती हैं। जैसे रक्त में विकार से ग्रन्थियां (blood clots) बनती हैं वैसे ये चैतसिक ग्रन्थि (Psychic clots) पैदा होते हैं।

·· तो, जीवन जीने का अर्थ यह हुआ कि गति करनी पड़े तब सन्तुलन बना रहे और जब स्थिति का अवसर हो तब बिना ऊबे हम स्थिर रह सकें। बोलना है-तब सही-सही बोल सकें और जब बोलने की जरूरत नहीं है तब मौन में भी उतना ही आनन्द आवे। आप करके देखिये। दो दिन एकान्त में अपने कमरे में आप बन्द रहें, एक शब्द भी खुद नहीं बोलना, किसी प्रकार का शब्द सुनना नहीं, पढ़ना नहीं।भार हो जायेगा, घबरा जायेंगे। क्योंकि जीभ को चलने की और कानों को सुनने की आदत पड़ी है। एकान्त में जीना जानते नहीं हैं। मौन में, शून्य में, स्थिरता में, एकाकिता में जो जीवन का सत्त्व भरा पड़ा है, उसका ख्याल नहीं, भान नहीं है, वह हमें देखना है। सब स्थितियों में संतुलन कायम रहे। अकेले हों तो आनन्द है, लोग मिलें तो आनन्द है।

'यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ।।'

अध्यात्म सिखायेगा इन्द्रियों का सन्तुलन और चित्त का समत्व दोनों कायम रखते हुए सभी व्यवहारों में से जाना। सम्बन्धों से दूर, बाहर जीवन नहीं है। अकेले में अस्तित्व-मात्र है। समाज में रहते हुए ही अध्यात्म को जीना है-यह हमारी जिम्मेवारी है। आज यही तो कमी है। सच बोल नहीं पाते,-डर के मारे, लालच के मारे, मोह के मारे, अहङ्कार के मारे सच नहीं बोल पाते। बोलने चले तो जबान काबू में नहीं, मन काबू में नहीं। अपनी गरिमा का भान नहीं। इसीलिये न हाथ फैला देते हैं! मुफ्त का लेना चाहते हैं, मुफ्त का पैसा मिल जाय तो अपने को होशियार समझते हैं।

—यह अपनी राष्ट्रीय बीमारी है। गरीब को लालच हो मुफ्त की वस्तु मिलने का तो समझ में आता है। पर अमीर लोग, लखपति लोग भी इस मुफ्तखोरी की बीमारी से ग्रस्त हैं। कितने ही बार यह देख कर शर्म से सिर झुक जाता है। [···जो लोग हवाई जहाज से सफर करते है, वे गरीब तो नहीं। उनकी घटना सुनाऊँ। एक बार मैं न्यूयॉर्क जा रही थी। पैरिस में विमान बदलना था। इसलिये पैरिस के विमान-अड्डे पर चार घण्टे सब यात्रियों को रुकना था। उस समय सबको नाश्ता कराया जा रहा था। मुझे तो कुछ लेना नहीं था, (बाहर की बनी भोजन की वस्तु नहीं लेती) तो यूं ही टहल रही थी। तब देखा कि भारतीय यात्रियों के लिये एक कोने में अलग व्यवस्था की गई थी। वहाँ कटलरी-(चम्मच-छुरी-काँटा आदि) प्लास्टिक की थी, जब कि अन्य सबके लिये स्टेनलेसस्टील की थी। मुझे ताज्जुब हुआ कि यह क्यों? मैं मैनेजर के पास पहुँची और पूछा कि भारतवालों की अलग व्यवस्था क्यों है? वे बोले 'आप पूछो नहीं तो अच्छा, क्योंकि कारण बतायेंगे तो आपको दुःख होगा।' मैंने कहा कि जो भी है वह जानना तो चाहिये! तब बोले कि 'क्या करें, इतने सारे यात्री एक साथ आते हैं तो हम कहाँ तक नजर रखें। उनमें भारतीय यात्री स्टील के चम्मच–छुरी–काँटा जेबों में डाल ले जाते है। इसलिये मजबूर होकर इनके लिये अलग प्लास्टिक कटलरी रखने लगे हैं।···' ऐसा लगा कि धरती फटे और उसमें समा जाऊँ।···और भी पहले की बात है, मैं पढ़ती थी। तब परिवार के कुछ लोग पार्लियामेन्ट के सदस्य थे। दादा धर्माधिकारी भी संसद में थे। तब वहाँ की कार्यवाही के अध्ययन की दृष्टि से कभी-कभी दिल्ली जाना होता था।···राष्ट्रपति भवन में जब संसद-सदस्यों को भोज दिया जाता, मेजों पर सूखा मेवा बादाम-काजू किशमिश अखरोट आदि-रखा होता, चाँदी के वर्क

वाले कीमती मसाला भरे पानबीड़े रखे होते। दो-तीन बार दादा के साथ ऐसे भोज में जाना हुआ तो देखा कि M.P. लोग खाते कम और इन सब सामग्रियों से जेबें भरते अधिक।...मैंने दादा से कहा-'मुझसे वहाँ जाना नहीं होगा। रोना आता है देखकर। ये ही लोग लोकसभा में बैठ कर राष्ट्र के लिये कानून बनायेंगे ?' ...आज तो बुराई बहुत आगे बढ़ चुकी है।...यह चेतना को कितना नुकसान करती है मालूम नहीं हमें।]

मुफ्त खाने की वृत्ति मन में घर कर चुकी, तभी तो ७० करोड़ लोग हाथ फैलाये रहते हैं, और इस देश की सरकार को विश्व के अन्य राष्ट्रों के सामने हाथ फैला कर ऋण करके अपनी योजनायें बनानी पड़ती हैं। अन्य राष्ट्रों के साथ आर्थिक चंगुल में ऐसा फँस चुका है भारत कि यहाँ की भावी तीन पीढ़ियाँ तक ऋणी ही पैदा होंगी। काश कि इस देश की जनता का स्वाभिमान जगे और खड़ी होकर वह कहने लगे कि हम मेहनत करेंगे, भले २५ रु. के बदले १०-१५ रु. रोज मिलें, लेकिन भारत की सरकार कहीं से ऋण लेने न जाये। श्रमाधारित कार्ययोजना होगी पूंजीआधारित नहीं।

लेकिन यह बनता नहीं है क्योंकि मनुष्य की अपने ऊपर श्रद्धा नहीं है और काबू नहीं है। गति करनी है तब प्रमाद में रहता है, स्थिर रहना है तब चञ्चलता में उतर जाता है। कहीं भी यथायोग्य हम टिकते नहीं। हमारे व्यवहार असन्तुलित हैं। यह असन्तुलन रूपी अशुद्धि, शिजोफ्रेनिक-छिन्न-भिन्न-व्यक्तित्व आज राष्ट्रीय बीमारी है। इस में से निकलना है न हमको! कैसे निकलेंगे इस पर हम मिल कर विचार करेंगे। पहले बीमारी को अच्छी तरह पहचान लें।

घड़ी दो घड़ी शान्त बैठने का समय हो, तब मन भटकता है-'चार दिन पहले क्या हुआ था? महिना या साल भर पहले क्या हुआ था? किसने मेरे साथ कैसा व्यवहार किया था? उसका क्या परिणाम आया था?-स्मृति को कुरेद-कुरेद कर पहले हुए अनुभवों को जगाना चाहता है, उसमें से सुख-दुख चूसने में पता नहीं मन को क्या सान्त्वना मिलती है? भूतकाल के भूत जगाता रहता है। जब शान्त रहने को समय मिला तब भूतकाल में चला गया, या तो भविष्य के सपने देखने लगा। घड़ी भर शान्त नहीं बैठ सकता। जब वर्तमान के साथ जीना है तब भी। सामने खड़े किसी के साथ बात करनी है, तो याद आया 'कल इसने अपमान किया था,' आज ताक में है मन कि 'उसका बदला कैसे चुकाऊँ।' मेरा सम्बन्ध कल के अपमान के साथ है, वर्तमान में जो सामने खड़ा है उसके साथ सम्बन्ध जोड़ने की मेरी शक्ति नहीं।

मित्रो ! जीवन वर्तमान में जिया जाता है, भूतकाल या भविष्य में नहीं। नकद ठोस व्यवहार की आवश्यकता है वर्तमान में। वर्तमान में कैसे रहना, भूत भविष्य में कैसे नहीं भागना, असन्तुलन हटा कर सन्तुलित व्यवहार कैसे करना चित्त में समत्व कैसे धारण करना-यह सभी हमें सीखना है।

राष्ट्रीय समस्या नैतिक अधःपतन की है। वह पतन किसी एक वर्ग का नहीं हुआ है, सर्व-सामान्य का हो गया है। जिसको जितना मौका मिला उतनी वह रिश्वतखोरी करेगा, उतनी मुफ्त की कमाई बटोरने की ताक में रहेगा। परिश्रम और समय की चोरी करेगा।...उधर चीन की एक घटना याद आती है। १९६२ में वहाँ भीषण अकाल पड़ा था। बहुत लोग भूखे मर रहे थे। तब, विश्व की जो एक quakers society है। और जो सत्य-अहिंसा में विश्वास रखने वाला अंतर्राष्ट्रीय मित्र समाज या 'दर्शक' समाज कहलाता है, उसने इंग्लैण्ड में अपील करके दवायें, खाने-पीने का सामान, वस्त्र आदि जरूरत की वस्तुयें जुटा कर एक बहुत बड़ा जहाज भरकर चीन भेजा था। मैं इंग्लैन्ड में थी उन दिनों। तभी वह जहाज वापिस आ गया। उसके साथ चीन सरकार की तरफ़ से एक पत्र था—International friends society के नाम। वहाँ मेरी एक मित्र थीं-स्टेला एलेक्जांडर, वे पूर्व-पश्चिम-सम्बन्ध-समिति की अध्यक्षा थीं। जहाज वापस आने की सूचना व पत्र मिला तब मैं वहीं उनके पास बैठी थी। उन्होंने वह पत्र पढ़ कर सुनाया। उसमें लिखा था कि "आपने जो हमारे लिये यह अनाज, दवायें आदि सामग्री भेजी इसके हम आपके बहुत कृतज्ञ हैं, आभारी हैं, लेकिन हम अपने देश की प्रजा को भीख पर जीना सिखाना नहीं चाहते। जिस दिन हम खरीद सकेंगे तब पहली प्राथमिकता आपको देंगे। लेकिन आज यदि भीख के अन्न पर जीना इस देश की प्रजा सीखेगी तो उसका परिश्रम का प्रेम नष्ट हो जायेगा। आज भले पेट पर वह पट्टी बाँधेगी पर अपने परिश्रम से आत्मसम्मान पूर्वक उसका जीना बना रहेगा।"...यह सुनते हुए मेरा दिल कैसा रोया होगा। कारण कि हमारे देश की प्रजा तो भीख माँगने में या चाहे जैसे मुफ्त का खाने में ही कुशल हो गई है। परिश्रम से कमाने वाले को उसके घर के लोग ही कहने लगते हैं कि "कैसा फूहड़ है, इसे कमाना ही नहीं आता फलाने को देखो। ७०० तनख्वाह है २००० ऊपर से ले आता है।...मानो बड़े गौरव की बात हो चोरबाजारी, रिश्वतखोरी, अन्याय। 'अरे ऐसी सच्चाई से रहना था तो शादी क्यों की?'—घर की स्त्रियों के दिल में भी यह चीज आ गई कि मुफ्त का खाया जाय। अपराध हो गया सत्य-न्याय-धर्म से रहना।

यह है भ्रष्टाचार की जड़। जिस देश के नागरिक ऐसे स्वाभिमान भूल कर सुविधा-सुरक्षा परायण हो जाँय, वहाँ नैतिक मूल्य कहाँ ठहरेंगे? जिन्हें मरने

का डर है, सादगी का डर है, असुविधा का डर है वे स्वाधीन कैसे ?···बापू ने निर्भयता का मन्त्र सिखाया तब, त्याग और बलिदान की भावना जगाई थी, पर आजादी मिलते ही हमने मान लिया कि अब तो भोग-विलास के लिये बिल्कुल लाइसेन्स मिल गया। जितना बन पड़े झपट लो। लूट लो। देश का कुछ भी हो। रेल में चलनेवाले यात्री सीट का रेक्जिन निकाल लेते हैं, शीशे, पंखे, नल निकाल लिये जाते हैं। कहां तक की नीचता कही जाय !···नैतिक अधःपतन के जिम्मेवार हम सब हैं। सबके दिल में लालच रहता है, जिसको जितना मौका मिलता है वह भ्रष्टाचार कर लेता है। जिसे मौका नहीं मिलता वह जलता है या उसकी आलोचना करता है।···यह लालसा कैसे जाय ? नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा कैसे हो ? और सांस्कृतिक सङ्कट में से देश कैसे ऊपर आवे ? यह मूल समस्या है। इसका आर्थिक-राजनैतिक पहलू जो भी हो, उसे निभाने का सङ्कल्प करना होगा। मानव के नाते जीवन जीने का अर्थ समझना होगा।

ॐ

तृतीय प्रवचन

दि. २२/२/८४ प्रातः ६.३० बजे

आज यह देखने की कोशिश करेंगे कि 'ध्यान' क्या है ? 'ध्यान' शब्द कहाँ से आया है ? पातञ्जल योगदर्शन में यम-नियम आसन-प्राणायाम, प्रत्याहार-धारणा-ध्यान समाधि—ऐसा मनुष्यजीवन या साधना के विकास का क्रम बतलाया है । देह की दृष्टि से तो मनुष्य और पशुओं में बहुत कुछ साम्य है । खान-पान पशुओं को चाहिये । कामवासना, भय और सुरक्षा की सहजवृत्ति पशुओं में है और मनुष्यों में भी है । लेकिन मनुष्य की देह में एक शक्ति है अपने आप को जानने की, स्वसंवेद्यता self consiousness, यह पशुओं में नहीं है । 'मैं कौन हूँ ? मैं क्या हूँ ? क्या है मेरा जीवन ? इस जीवन में मुझे क्या करना है ?'—यह सब सोचने समझने की जिम्मेवारी आ जाती है मनुष्यों पर 'मननात् मनुष्यः', जो पशुओं में नहीं । पशु पाप नहीं करते, हिंसा नहीं करते । वे तो सहजवृत्ति से क्रिया करते हैं । लेकिन मनुष्य जो हेतुपूर्वक कर्म कर सकता है, वह हिंसा भी कर सकता है । वह पाप भी करता है पुण्य भी । क्योंकि हम जिम्मेवार प्राणी (responsible creatures) हैं ।

हमने अपने रहने का एक ढाँचा बनाया, रीति-नीति-व्यवस्था बनाई कि हम साथ रहेंगे, साथ जियेंगे । गिरोह या झुण्ड बना कर नहीं, सुघड़ व्यवस्थित समाज बना कर रहेंगे । साथ जीने के लिये थोड़ी स्वाधीनता छोड़नी पड़े, सहज-वृत्तियों पर वश रखना पड़े तो वैसा करेंगे, एक-दूसरे को सम्हाल लेंगे । और भी संस्कृति ने कहा कि मनुष्य देह में प्राकृत विकारों को संस्कृत बनाने की भा जिम्मेवारी है । क्या खाना, क्या नहीं खाना ? कैसे खाना कब खाना ? यह सोचा गया । यहाँ यम-नियम का सम्बन्ध आया । पशु की तरह जहाँ-तहाँ, चाहे जो, चाहे जब मुंह में डालना, दिन भर मुंह चलाते रहना मनुष्य का धर्म नहीं । जहाँ सोचने की शक्ति आयी वहाँ धर्म खड़ा हो जाता हे—

'धारणाद् धर्म इत्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः'—प्रजा को धारण करने वाले जो यमनियम आदि हैं, उन सब को लेकर धर्म बनता है ।

अतः जिनको ध्यान में रुचि है (ध्यान पथ पर चलना चाहते हैं, उन्हें पहले अपने जीवन में यम-नियमों को लाना पड़ेगा । अपने शरीर की अवस्था, अनुकूलता, अपनी आर्थिक स्थिति, व्यवसाय का स्वरूप सब देखकर अपने खान-पान और जीवनचर्या का निर्णय करना होगा । चाहे जैसा शरीर और जीवन-

पद्धति रहते हुए बस आँख बन्द करके बैठने से ध्यान हो जायेगा यह मानना भ्रम है । जैसे हैं वैसे बैठकर भगवान का नाम लिया जा सकता है, भजन गाये जा सकते हैं, विग्रह की सेवा-पूजा की जा सकती हैं (जबकि वे भी सच्चे दिल से किये जायँ तो जिन्दगी में परिवर्तन लाये बिना रहेंगे नहीं ।) लेकिन जीवन में अन्तर्बाह्य सन्तुलन जिसे पैदा करना है, मनुष्यजाति के लिये वासुदेव का जो आदेश है—'योगी भव अर्जुन !—उस पर जिसे चलना है, उसे आहार-विहार में लय और संयम पैदा करना ही पड़ेगा ।

मनुष्य में जो स्वच्छन्दता है कि हमारी जब मर्जी हो तब, जितनी मर्जी हो उतना और जो मर्जी हो वह खा पी लेंगे तो उससे ध्यानाभ्यास नहीं होगा । हो सकता है किसी को तीन बार खाने की जरूरत हो, किसी को दो बार तो किसीको चार बार । लेकिन वह तय कर लेना चाहिए । आपने गांधीजी की बात सुनी होगी कि दुनियाभर का काम करते हुए प्रार्थना के समय प्रार्थना, ११ बजे भोजन, शाम ५ बजे भोजन करना नियमित चलता था । क्या खाना है, कितना खाना है निश्चित—नियमित रहता । पाँच वस्तु भोजन में लेनी हैं तो छठी को बापू नहीं छुयेंगे ।

लोगों ने गांधीजी का नेतृत्व स्वीकार किया लेकिन उनकी प्रभुश्रद्धा, उनके जीवन का संयम, उनकी जीवनपद्धति स्वीकार नहीं की । योगी की भाँति ही बापू जीते थे और योगी की भाँति देह छोड़कर गये । बिस्तर में नहीं, बीमारी में नहीं । खड़े-खड़े प्रभु का नाम लेते हुए शरीर छोड़ा ।...बापू का नाम लूँ तो साथ ही उनसे अभिन्न विनोबाजी की बात क्यों न करूँ ? कैसे उन्होंने शरीर छोड़ा—शुद्ध बना कर । सात दिन तक पानी भी न लेते हुए शरीर को ऐसी शुद्धि तक पहुँचा दिया कि कबीर के शब्दों में—'ज्यों की त्यों धरि दीनी चदरिया !' आठ नवंबर को जल छोड़ दिया था, मैं १२—१३ नवं. को मिलने गई तो देखा मुखमुद्रा उज्ज्वल है । स्वच्छ हैं आँखें । प्रसन्न मुद्रा है । शरीर पर कहीं dehydration का पता नहीं, म्लानता नहीं, ग्लानि नहीं, फीकापन नहीं, कुछ भी अस्वाभाविक नहीं ।

यह एक दिन में नहीं हुआ करता । शरीर ऐसा स्वच्छ चपल, तरल बनाने के लिये आहार-विहार में संयम पैदा कर लेना चाहिये । और क्या कितना शरीर को अनुकूल पड़ता है, क्या प्रतिकूल पड़ता है—यह देख कर खिलाना चाहिये । जीने के लिये शरीर को खिलाना पड़ता है । खाने के लिये मनुष्य नहीं जीता ।

ऐसा ही विषय निद्रा का है । मनुष्य अपने जीवन की एक तिहाई—९० वर्ष आयु हो तो ३० वर्ष—नींद में व्यतीत करता है । जीवन के आरम्भ

में १०–१५ वर्ष बचपन में खेलकूद में निकल ही जाते हैं । बाकी बचे ४५–वर्ष कुछ जवानी की मस्ती में कुछ बुढ़ापे की बीमारी में निकल जाते हैं । अपने आयुष्य के कर्मों की कोई व्यवस्था हम पैदा नहीं कर पाते । और मनुष्य-जन्म में आये हैं प्रभु को आँखों से देखने, हृदय में उनका ध्यान धरने के लिये । प्रभुमय होकर प्रभु के बनाये संसार में प्रभु के बन कर जीने के के लिये मनुष्य आया है, वह कुछ हो नहीं पाता ।

इसलिए जो ध्यानाभ्यास सीखना चाहते हैं उन्हें मैं कहती हूँ कि ५–७ दिन अपने शरीर को अच्छी तरह देख-परख लो कि क्या अनुकूल पड़ता है क्या नहीं पड़ता ? निद्रा कितनी आवश्यक है ? क्या व्याधि है ? क्या मर्यादायें है ? वे कहाँ तक समाप्त की जा सकती हैं ? इत्यादि । फिर कम से कम एक महीने के लिये लयबद्ध जीवनक्रम निश्चित कर लें । उतना आहार-विहार-निद्रा नियमित देने का संकल्प कर लें । आहार में अन्न-सब्जी-फल-दूध-पानी सभी की मात्रा और समय निश्चित कर लें ।

इस के अलावा शरीर को दिया जाता है प्राणतत्त्व–श्वासोच्छवास द्वारा । उसमें भी नियमितता लानी होगी । यह नित्य-यज्ञ है । विश्व में फैले प्राणतत्त्व को श्वास द्वारा भीतर लाते हैं । भीतर आकर वह रक्त की शुद्धि (Oxydisation of blood) करता है । भीतर की अशुद्धियों को उच्छ्वास द्वारा बाहर फ़ेंका जाता है । श्वासोच्छ्वास केवल धौंकनी नहीं हैं । प्राण भीतर लेने और अपान बाहर छोड़ने की कला व विज्ञान सीख लेने चाहियें ।

बच्चों को छोटी उमर में ही यह प्राणायाम सिखाया जा सकता हैं कि दो सेकेण्ड में यदि प्राण भीतर लेते हों तो उसे आठ सेकेण्ड धारण करें फिर चार सेकेण्ड में छोड़ें । जितनी तेजीसे श्वास लिया जाता है, उतनी तेजी से छोड़ना नहीं चाहिये । हमें श्वास-उच्छवास की जो शक्ति मिली है, उसको विज्ञान से जोड़ते नहीं, और चाँद व मंगल पर जाने के लिये बुद्धि खपा रहे हैं । दैनिक जीवन में तरह-तरह के सुखोपभोग के लिये विज्ञान और यन्त्रविज्ञान का विकास कर रहे हैं । परन्तु जीवन जीने के मूल कर्म में हम विज्ञान जोड़ने को तैयार नहीं ।

विनोबाजी ने जीने में विज्ञान को जोड़ा था । आहार की कितनी सूक्ष्मता तक वे गये थे इसका निदर्शन एक घटना में मिलता है । एक बार चाण्डील में विनोबाजी बीमार थे । प्रधानमन्त्री नेहरूजी को उनकी चिन्ता रहती थी, क्योंकि सुन रखा था कि केवल १२०० केलेरी का आहार लेते हैं वह भी दही

और मधु ही । और काम इतना अधिक करते हैं । तो नेहरूजी ने डॉ. बी.सी. राय के नेतृत्व में ६ डॉक्टरों का एक जत्था भेजा विनोबाजी के पास कि उन से बातचीत करके आहार आदि का समुचित क्रम बना दें । संयोग से मैं तब विनोबाजी के पास ही थी । डॉक्टरों द्वारा सन्देश सुन कर वे हँस पड़े । कहने लगे 'अरे ! मुर्दे फाड़-फाड़ कर तुमने डॉक्टरी सीखी है, तुम योगी का जीवन क्या जानो ? अच्छा, यदि पण्डितजी का हुकुम है तो मेरा आहार सुनो और कॅलरीज गिनते चलो । लिखो मैं गीता के १८ अध्याय रोज खाता हूँ । बनाओ कॅलरीज ।'

डॉक्टरों को लगा कि मजाक कर रहे हैं । पर वह मजाक नहीं था । हम गीतापाठ करते हैं तो वह यान्त्रिक क्रिया होती है । विनोबाजी भगवान वासुदेव की वाणी के एक-एक शब्द को चबा-चबा कर उसमें जो अर्थ का अमृत भरा पड़ा है उसे पीते थे । हम गीता पढ़ते हैं तो कहाँ भगवान् के अधरों से झरा हुआ वह अमृत पीते हैं ? शब्दों का प्राशन नहीं करते हैं । इसलिये भूखे प्यासे कोरे ही रह जाते हैं । और विनोबाजी २४ घण्टे में एक बार १८ अध्याय मन में बोल जाते तो उन्हें उससे पोषण मिलता था ।...फिर आगे वे बोले 'मैं भरपूर आकाश खाता हूं आकाश में जो ऊर्जायें भरी पड़ी है मैं उनका सेवन करता हूँ—आकाश सेवन करता हूँ । बनाओ कॅलरीज ।' क्या करते Dr. B.C. Roy ? अभी तीसरा ठोस आहार बाकी था । विनोबाजी बोले–'सन्तोषसेवनम् रविरश्मिसेवनम् ! मैं सन्तोष खाता हूँ और सूर्यकिरणों से Multivitamin treatment लेता हूँ ।' हँसते हुए बातें करते जा रहे थे । हैरान थे डॉक्टर । जाकर नेहरुजी को कहा कि इनका आहार ठीक करा देना हमारे वश की बात नहीं है ।

मैं कह यह रही थी कि यदि ध्यानावस्था में जाने की रुचि है तो आहार-विहार में हमें स्थूल से सूक्ष्म की ओर आरोहण करना पड़ेगा । धरती में बीज बोते हैं तो अंकुर ऊपर की ओर उठता है । इन्धन जलाते हैं तो ज्वाला ऊपर की ओर उठती है । उसी प्रकार मनुष्य को स्थूल में से सूक्ष्म की ओर जो आरोहण करना है, वह मनुष्य की जीवनयात्रा है । पशुओं की तरह खाना-पीना, श्रम करना, सोना, सन्तति बढ़ाना, उससे आगे पैसा जुटाकर बैंकों में भरना और ऐश-आराम के साधन बढ़ाते जाना—इसी के लिये तो मनुष्यजन्म नहीं है । भलीभाँति देहधारणा और कुटुम्ब-पोषण के लिये श्रम करना, धन अर्जन करना, उस धन का विनियोग करना-सब जरूरी है, पर उसको विज्ञान के साथ जोड़ना होगा ।

इस प्रमादी–आलसी और लाचारी में पड़े हुए देश को लोकमान्य तिलक ने कहा था–'कर्मयोगी भव !' मण्डाले की जेल में बैठकर श्रीमद्भगवद्गीता

की टीका लिखी–'कर्मयोगरहस्य'। घर में बैठकर वेद-वेदान्त की बातें करोगे, षट्दर्शन के शास्त्रार्थ करोगे और कर्म नहीं करोगे ?'...गांधीजी ने कहा कि कर्म 'योग' तब बनेगा जब अनासक्त होगा। उन्होंने गीता–व्याख्या लिखी–'अनासक्ति-योग'। 'अनासक्त भाव से कर्म करोगे तो उसमें सन्तुलन आयेगा, तब चित्त शुद्ध होगा। आसक्तिपूर्वक कर्म करोगे तो उससे न चित्त शुद्ध होगा, न किसी का भला होगा।'...विनोबाजी ने कहा 'अनासक्ति तब होगी जब मन से ऊपर उठोगे। ब्राह्मी स्थिति में पहुँचोगे। जहाँ पहुँचने के बाद चित्त में किसी प्रकार का मोह नहीं रहता। तभी अनासक्तियोग होगा।' ऐसे तिलक से विनोबा तक-कर्मयोग-अनासक्तियोग-ब्रह्मविद्या की उपासना—ये हमारे राष्ट्रनेताओं के उपदेश हैं।

पहला कदम है (१) आहार-विहार-निद्रा की वैज्ञानिक व्यवस्था कायम करना। उसमें फिर रञ्चमात्र भी इधर-उधर नहीं करना। जितने घण्टे की निद्रा निश्चित की हो उससे अधिक एक मिनट में भी बिस्तर में रहना और आहार का जो क्रम रखा हो उससे बाहर मुँहमें कुछ डालना शरीर का द्रोह है, जीवन का अपमान है।...(२) प्राणायाम द्वारा प्राणतत्त्व को शुद्ध कर लेना। (३) नियमित रूप से कुछ योगासनों द्वारा शरीर को सुदृढ़ लचीला और स्व-वश बना लेना होगा। (४) प्रत्याहार यानी बाहर दौड़ती वृत्तियों को उनके केन्द्र में समेट लेना।

इतना जिस ने किया, यम-नियमादि द्वारा तन-मन को स्ववश बना लिया, वह व्यक्ति फिर (५) धारणा का अभ्यास करेगा। धारणा याने किसी चीज को धारण करने की शक्ति, जिसे 'धृति' कहा गया है। वह आज हम में नहीं है। हम किसी पदार्थ को देखते हैं तो स्थिर दृष्टि से उस का पूरा स्वरूप देख नहीं पाते। चञ्चल है मन। कोई बात कर रहा है तो उसकी बात पूरी सुन नहीं पाते। वह वाक्य पूरा करे न करे इतने में प्रतिक्रियायें ऊपर उठ आती हैं। अच्छा-बुरा कह दिया, स्वीकार-अस्वीकार हो गया। कहनेवाले की बात पूरी भी नहीं हुई कि हमारे अन्दर फ़ैसला हो गया। इस अस्थिरता-चञ्चलता के कारण न देखने का कर्म होता है न सुनने का।...इस के लिये धारणा का अभ्यास पातञ्जल योग में बतलाया गया है। सभी इन्द्रियवृत्तियों को हृदय में समेट लेना और किसी एक पदार्थ पर एकाग्र करके स्थिरता का अभ्यास करना –यह है धारणा।

इस से मन अपने काबू में आयेगा। 'परबस जानि हँस्यो इन इन्द्रिन, निज बस ह्वै न हँसैहौं। मन-मधुपहिं पन करि तुलसी रघुपति-पद-कमल बसैहौं।' तन-मन पर अपना काबू न हो तो स्वाधीनता के पथ पर चलेंगे कैसे ?

इस धारणा (चित्त की एकाग्रता) को ही लोग भूल से ध्यान समझ लेते हैं। किन्तु समझ रखें कि **ध्यान किया नहीं जाता। ध्यान में जिया जाता है।** धारणा की जाती है। धारणा का अभ्यास १२ प्रकार से किया जाता है, जिस में त्राटक एक महत्त्व की वस्तु है। उन १२ प्रकारों का विवरण यहाँ नहीं करना है। इतना कहना चाहती हूँ कि बच्चों को छोटेपन से ही यह सिखाया जाना चाहिये। दीपक की लौ पर, उगते सूरज पर, ॐ पर या किसी छबि के नेत्रों पर कुछ समय निर्निमेष दृष्टि स्थिर करने को बच्चों को सिखा सकते हैं। पलक झपकाये बिना एक ही पदार्थ पर दृष्टि एकाग्र करना ही त्राटक है। मैंने ६ वर्ष की अवस्था में त्राटक-अभ्यास किया था।...किसी मन्त्र के जप द्वारा नाद पर भी त्राटक हो सकता है। अर्थ-भावना करते हुए किसी मन्त्र को बारम्बार निरन्तर बोलना जप है-'तज्जपस्तदर्थभावनम्'। जप में नाद है, उस पर चित्त को एकाग्र करें। धारणा के लिये कोई विषय चाहिये, संकल्प चाहिये, नियत समय चाहिये। ये मर्यादायें हैं उस में।

'ध्यान' का अभ्यास नहीं किया जा सकता। ध्यान सिखाया नहीं जा सकता क्योंकि वह कोई क्रिया-प्रक्रिया नहीं है। जहाँ विषय है, प्रक्रिया है, वह एकाग्रता या धारणा का अभ्यास है। राम-कृष्ण-देवी-शिव-या गुरु की छबि की तरफ़ अपलक नयनों से देखो, उस छबि को आँखों में भरलो, उसकी पूजा अर्चा करो-जैसी भी उसकी आराधना करना चाहो जरूर करो। लेकिन उसे ध्यान नहीं समझना।

धारणा के लाभ बहुत हैं। उससे मन सबल बनता है। सुप्त शक्तियाँ खिल उठती हैं। हमारे तन-मन में अनन्त शक्तियाँ हैं जिनका हमें परिचय नहीं है। धारणा के अभ्यास से वे शक्तियाँ खिलने लगती हैं। जैसे दूरदर्शन, दूरश्रवण (यहाँ बैठे भारत के किसी भी कोने में या विदेश में क्या हो रहा है वह देख-सुन सकना) दूसरे के मन का विचार उसके बोलने से पहले दिखजाना इत्यादि।

ध्यान क्या है यह समझने के लिये, क्या नहीं है यह समझना जरूरी है। आज़ादी के बाद इस देश के अनेक सन्तों-संन्यासियों ने अध्यात्म को व्यापार का विषय बना दिया। ध्यान सिखाने के नाम से विदेशों में जाकर उसके सौदे तय कर लिये। परामर्श का इतना शुल्क, प्रक्रिया सिखाने का इतने समय का इतना शुल्क-ऐसे मोल-तोल कर लिये। सिखाते हैं धारणा।

ध्यान कोई क्रिया-प्रक्रिया नहीं, शारीरिक नहीं, मानसिक भी नहीं। बल्कि **तन-मन की सभी स्वायत्त-परायत्त क्रियायें शान्त होने के बाद ही उदित हो सकनेवाली एक अवस्था है ध्यान।** 'ध्यानावस्थिततद्गतेन

मनसा पश्यन्ति यं योगिनो'...वह अवस्था है अपनी समग्रता की जिसमें काया-मन-बुद्धि सब समाविष्ट हैं ।

यम-नियम से लेकर धारणा तक क्रियासाध्य हैं, मनुष्य के पुरुषार्थ का विषय हैं । और इतनी पूर्वतैयारी मनुष्य को करनी भी चाहिये । यम नियम से शरीर को शुद्ध करलें । योगासनों द्वारा काया को चपल-तरल-तत्पर और सुदृढ़ बना लें । योगासनों जैसी शरीर के व्यायाम की वैज्ञानिक पद्धति दूसरी नहीं है। ८४ आसन हैं, उनका विवरण करने का यहाँ अवकाश और प्रसङ्ग नहीं । उत्तान पाद, शलभासन, सर्पासन, गरुड़ासन, धनुरासन, सर्वाङ्गासन, हलासन, दक्षिण-पश्चिमोत्तानासन आदि ५–६ आसन चुनलें । एक आसन दो मिनिट तक करें- दो मिनिट एक आसन में रहते हुए प्राणायाम कर सकें तो वह आसन सिद्ध हुआ कहलाता है । आसनों का चुनाव और प्राणायाम की संख्या आदि अपने शरीर की मर्यादा, क्षमता, गुण-दोष देखकर करना चाहिये । जवान आदमी १०-१५ प्राणायाम कर सकता है, प्रौढ़ावस्था है तो ६-७ करलेगा । अध्यात्म कोई 'स्टीमरोलर' नहीं है कि सबको एक ही नियम में बांधा जाय । इतना ही कह दूं कि प्रातःकाल स्नानादि करके १५ मिनट आसन और ५ मिनिट भी प्राणायाम कर लिये जायें तो सामान्य रूप से पर्याप्त होंगे । हाँ उनमें सातत्य और नियमितता जरूरी है ।

ऐसे प्राणायाम से प्राणतत्त्व और रक्त को शुद्ध कर लें । प्रत्याहार से संयम की अग्नि तपायें और धारणा से तन-मन की सुप्त शक्तियों को जगा लें, विकसित कर लें ।...यदि कार्यकर्त्ताओं ने इस बारे में सोचा नहीं है तो जरूर सोचें, यह मेरा अनुरोध है । १५–२० मिनट तो आसन-प्राणायाम के लिये निकालने ही चाहियें । नहीं तो शरीर भारी रहता है, जकड़न रहती है, स्थिरता से बैठ नहीं सकते, चलने में सौष्ठव नहीं आता । ऐसे शरीर को लेकर क्या सेवा करेंगे ? शरीर को जितना निरामय रखा जा सकता है, रखना चाहिये न ! खान-पान सन्तुलित नियमित और वैज्ञानिक रीति से दें, स्वच्छन्दता छोड़ें ।

विद्यार्थियों को उच्चमाध्यमिक कक्षा तक धारणा का अभ्यास कर लेना चाहिये । विद्यालयों में अनिवार्य रूप से इसे दाखिल करना चाहिये । अपने देश का दुर्भाग्य है कि स्वतन्त्रता के ३६ वर्षों तक इस ओर ध्यान नहीं दिया गया है । उधर फ्रांस में प्रसिद्ध नेता 'द गॉले' जब राष्ट्रपति थे, उन्होंने ऐसे ध्यानशिबिर में आकर आसान-प्राणायामों की बात सुनी, ध्यान की बात सुनी तो देश की Diplomatic services (कूटनीतिज्ञ-सेवा) में अतिरिक्त योग्यता के रूप में योगाभ्यास का सन्निवेश कर दिया, कि ऐसे पदों पर जो आते हैं उन्हें शरीर-मन के स्वास्थ्य-सन्तुलन की बहुत आवश्यकता है, इसलिये वे योगा-

म्यास करें । हॉलेन्ड में मैट्रिक तक स्कूलों में यम-नियम से धारणा तक का अभ्यास अनिवार्य कर दिया गया। अपना ही अभागा देश है जिसके पास विद्याओं का प्रचुर वैभव है लेकिन उनका उपयोग नहीं किया जाता । किसी भी प्रकार से अपना देश गरीब नहीं है । बहुत सम्पत्ति है यहाँ लेकिन हम उसका सही उपयोग-विनियोग करना नहीं जानते या चाहते। इसीलिये थोड़े लोग सम्पत्ति हड़प लेते हैं और अपच की व्याधियों से पीड़ित होते हैं और अधिकतर लोगों को भूखे रहना पड़ता है।

बल्गेरिया की बात कहूँ। वहाँ एक बहन से मिलना हुआ। उन्होंने धारणा का अभ्यास यहाँ तक बढ़ाया है कि निर्जीव वस्तुयें भी उनके संकल्प का अनुसरण करने लगती हैं । मेज पर कोई वस्तु रखेंगी-चश्मा, पेन्सिल, ब्रेड का टुकड़ा । स्वयं कुर्सी पर बैठ कर स्थिर दृष्टि से उन वस्तुओं की ओर बारी-बारी से देखती हैं । हम उन बहन को और सामने रखी वस्तु को एक साथ देख रहे हैं। चश्मा उठा और धीमे से जाकर उनकी आँखों पर जम गया, पेन्सिल हाथ में आ गई, ब्रेड का टुकड़ा उनके खुले मुंह में आ लगा।...पिछले २० वर्षों से बल्गेरिया में योगसूत्रों पर शोध-प्रयोग चल रहे हैं। उन्होंने सारी शिक्षणपद्धति को बदल दिया है । चलाई है-Pedagogy based on yogasutras (योगसूत्रों पर आधारित शिक्षणपद्धति) परिणाम यह हुआ कि जो शिक्षण १६ वर्षों में दिया जाता था वह ८ वर्षों में हो जाता है । योग की इतनी मदद उन्होंने ली है ।

यह धारणा का अभ्यास एक प्रक्रिया है। विभिन्न योगों में उसकी अनेक पद्धतियाँ हैं। यहाँ एक कर्ता है – धारण करने वाला, दूसरी है क्रिया, तीसरी पद्धति, चौथा है कर्म याने विषय और पाँचवाँ–समय। ऐसे पाँच घटक हैं। अतीन्द्रिय–अतिमानस जगत् के रहस्यों का परिचय पाने और उन में भरी शक्तियों का लाभ उठाने के लिये विदेशों के लोग धारणा के पीछे लगे हैं। जो भी चाहें वह इस हेतु से धारणाभ्यास में आगे बढ़ें । किन्तु उसे ध्यान न मानें ।

स्पष्टता के लिये पुनः कहती हूँ कि ध्यान अपनी समग्रता की वह अवस्था है जहाँ मन और बुद्धि की सभी गतियाँ शान्त हो जाती हैं। चेतन–अवचेतन की कोई भी क्रिया या गति वहाँ नहीं है । न भूतकाल की स्मृति है, न भविष्य की कल्पना। व्यक्तिचेतना एकदम निष्कम्प, निस्पन्द, नीरव, निश्शब्द अवस्था में स्थिर है । ऐसी जो सर्वथा गतिमुक्त स्थिति है वह ध्यानावस्था है । यह अवस्था जब स्वभाव बन जाती है, २४ घण्टे टिकती है, तब उसे समाधि कहते हैं । ध्यानावस्था ही जीवन को 'समाधि'–नामक आयाम में पहुँचाती है ।

इतनी बात समझ में आयी हो तो प्रश्न होगा कि इस की तरफ़ जाये कैसे ? कोई क्रिया-प्रक्रिया तो है नहीं कि उस का अभ्यास हो सके। हाँ वह ध्यानावस्था जागृत हो इसके लिये पूर्व तैयारी हो सकती है। शरीर मन को उसके अनुकूल, योग्य बनाया जा सकता है कि यह अवस्था जागृत हो कर स्थिर हो सके। पहले शरीर को स्थिर करने का अभ्यास करना होगा। जिन के शरीर में कोई व्याधि नहीं है, वे धरती पर आसन लगा कर बैठना प्रारम्भ करें। आसन लगाने लायक शारीरिक अवस्था नहीं है तो दीवार के साथ कोई लकड़ी का तख्ता रखलें, जमीन पर भी, ताकि सीमेन्ट-पत्थर आदि का असर शरीर पर न हो। गाँव के कच्चे घरों की गोबर लिपी जमीन और दीवार हो तो हर्ज नहीं, एक चादर बिछा कर भी बैठ सकते हैं, लेकिन सीमेन्ट के मकान शरीर के लिये प्रतिकूल हैं। सीमेन्ट मृत-जड़ द्रव्य है, इस में से आने वाली तीखी ठण्ड पसलियों-गुर्दो-जोड़ों में पैठ कर कष्ट देती है। अतः लकड़ी का तख्ता रख कर उस पर कम्बल और सूती स्वच्छ सफ़ेद या बहुत ही हल्के रंग की चादर की तह कर के बिछा लें। मौन-अभ्यास के लिये यह चादर या आसन अलग ही रखें, बाकी समय खुद भी इसका उपयोग न करें। दूसरे किसी के उपयोग में तो नहीं ही आना चाहिये।

अब करना क्या है ? गतिमुक्त स्थिरता में बैठने का शिक्षण स्वयं को देना है। **'प्रत्यवाय-विक्षेप-निवारणार्थं साधना न तु प्राप्त्यर्थं'**-साधना किसी प्राप्ति के लिये नहीं है, आत्मा की उपलब्धि में जितनी रुकावटें हैं उनको हटाने के लिये यह स्वशिक्षण है।...पहले पहर १० मिनट बैठते ही पता लगने लगेगा कि शरीर में यहाँ जकड़न है, वहाँ दुखता है,-कमर में पीठ में गर्दन में, पाँव में। पता चलता है कि शरीर को स्थिरता से बैठने की आदत नहीं है। यह जरूरी नहीं कि सब पद्मासन लगाकर ही बैठें। अर्धपद्मासन या सुखासन (पालथी) में ही बैठिये—**'स्थिरं सुखमासनम्'**। वह भा नहीं होता, शरीर में तकलीफ़ है तो पाँव लम्बाकर ही बैठिये। लेकिन बैठें इस ढंग से कि मेरूदण्ड सीधा रहे। गर्दन सीधी हो।

इस के पीछे विज्ञान यह है कि ये सीधे रहते हैं तो श्वासोच्छ्वास की क्रिया लयबद्ध चलती है। चाहे जैसे टेढ़े-मेढ़े झुके हुए बैठने में, श्वास अन्दर सब जगह घूम-फिर नहीं सकता। अतः शुद्धीकरण पूरा नहीं हो पाता। इस के अलावा उदरगुहा में अङ्ग-उपाङ्ग हैं उन पर दबाव पड़ता है। यह शरीर तो वीणा है। इसे 'गात्र वीणा' कहा गया। इस के दो तुम्बे हैं—एक मस्तक दूसरा उदर। इन दोनों के बीच साँसों के तार बंधे हुए हैं। सीधे बैठने से

श्वासोच्छ्लास में लय पैदा होता है। सामान्यतया हमारे श्वासोच्छ्वास ठीक नहीं चलते हैं। पूरा श्वास ले नहीं पाते हैं, पूरा निकाल नहीं पाते हैं। थोड़ा दीर्घ श्वास का अभ्यास करें। श्वास ठीक से लिया जाय, कुछ समय भीतर रखा जाय, फिर ठीक से छोड़ा जाय।

इस प्रकार बैठना प्रारम्भ किया। कब तक बैठें? शरीर अनुकूल हो गया है और कम से कम ४५ मिनिट बिना किसी शिकायत के बैठ सके तो मान लेना कि आसन सिद्ध हो गया है। १२ वर्ष की आयु में मुझे देखना था कि एक आसन पर कितना समय बैठा जा सकता है तो प्रयोग कर के देखा कि ७२ घण्टे बैठा जा सकता है। इस से भी अधिक बढ़े हुए लोग होंगे, लेकिन विद्यालय में पढ़ते हुए, घर का काम करते हुए बीच में अवकाश के समय तीन दिन तीन रात लगातार इस प्रयोग के लिये निकालकर देखा कि इतना तो मनुष्य शरीर में हो ही सकता है।...खैर,

स्वैच्छिक सभी गतियों को समेट कर बैठे हैं। केवल अनैच्छिक गतियाँ (involuntary activities) शरीर के भीतर चल रही हैं। नाड़ी चल रही है। धमनियों में रक्त दौड़ रहा है। श्वासोच्छ्वास चल रहा है। जहाँ धमनियों–शिराओं–नाड़ियों के संगम हैं वहाँ श्वासोच्छ्वास के साथ खून की गति का घर्षण होने से, परस्पर आघात–प्रत्याघात होने से नाद का जन्म है, अग्नि का भी जन्म है। दस प्रकार के अग्नि हैं।... तो जब आप शान्त–स्थिर बैठेंगे, आँख भी बन्द है, तब हो सकता है कि भीतर कोई नाद सुनाई दे। उसे कोई बड़ी आध्यात्मिक घटना नहीं मानियेगा। कभी मृदङ्ग की आवाज है कभी वंशी की, कभी मेघगर्जना की या डमरू या घण्टे की आवाज है ऐसे अनेकों नाद सुनाई दे सकते हैं। क्योंकि जो ब्रह्माण्ड में है वह सब पिण्ड में है। अतः जरा शान्ति से बैठने लगे और सात्त्विक-सदाचारी जीवन है तो कुछ दिनों में ही नाद या प्रकाश दिखाई देने लगते हैं। पर यह आध्यात्मिक घटना नहां।

पृथ्वीतत्त्व, जलतत्त्व, अग्नि, वायु सबको लाँघते हुए आकाश तक पहुँचना है, और आकाश से भी आगे आत्मा है-"आत्मनः आकाशः सम्भूतः। आकाशाद् वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी।"...तो जिस समय पृथिवी तत्त्व तमस् प्रधान है तब नीला रंग दिखेगा। जल तत्त्व कफ़-प्रधान है तो पीला रंग, पित्त अग्नि-प्रधान है तो लाल रंग दिखेगा, वात प्रकृति है उसे जामुनी (purple violet) रंग दिखेंगे, आकाश में पहुँचा हो तो कोई रंग नहीं दिखता। ये अन्तर्जगत् की अनुभूतियाँ हैं। आँख खुली है तो बाह्यजगत् दिखता है, वैसे बन्द आंख से अंतर्जगत् का कुछ-कुछ दिखने लगता है। लेकिन यह सब शरीर और मन के स्तर पर हैं। ये अनुभूतियाँ पार्थिव, भौतिक होती हैं। चार

तत्त्वों को लाँघ कर जहाँ आकाश में या मौन में पहुँचे वहाँ अनुभूतियाँ शान्त हैं।···कहना यही है कि आसन स्थिर होने के बाद रास्ते चलते बीच में आने वाली इन अनुभूतियों पर कोई अटके नहीं। इनमें बहुत सुख होता है। जैसे बाहर नदी-सागर के विशाल पट को देखकर, सूर्योदय-सूर्यास्त का रंगीला आकाश देखकर, सुन्दर मधुर संगीत सुनकर सुख होता है, उससे कहीं अधिक उत्कट सुख ये भीतर के नाद-प्रकाश सुनने-देखने से होता है। पर इनमें रुक न जायें।

इसमें जो अटका-भटका नहीं, उसे दिखने लगेंगे भीतर पड़े हुए विचार। वह शान्ति से बैठा है, वाणी भी शान्त है लेकिन मन चल रहा है। क्योंकि अब तक मन सतत चलता ही आया है। मन को शांत होने का स्थिरता से बैठने का अभी मौका नहीं दिया है। अब आप शांत बैठे हैं और मन चल रहा है। आप उसे देख रहे हैं चुपचाप। अब तक क्या था? मन चला कि साथ आप भी चले, इन्द्रियों को ले चले। मन का कहा माना और किया। कभी मन की गति के द्रष्टा बनकर आप बैठे नहीं थे। अब, जब आप स्थिर हो गये तो उस स्थिरता के दर्पण में मन के सारे गुण-अवगुण विचार, अनुभूति संस्कार, सबके सब सामने दिखते हैं। आप बन गये देखने वाले और आपका मन बन गया दृश्य। अब तक आप कर्ता थे, भोक्ता थे, अब बने हैं द्रष्टा। इस द्रष्टाभाव तक स्थिरता आपको पहुँचा देगी।

जो चञ्चल हैं वे द्रष्टाभाव तक भी नहीं पहुँचते हैं। न देख पाते हैं, न सुन पाते हैं। पूरी तरह से देखना और सुनना समग्र कर्म है, वह हमें आता नहीं है। स्थिरता का अभ्यास और शिक्षण द्रष्टाभाव तक हमें पहुँचा देगा।

'जो विचार आते हैं, दिखते हैं, उनके साथ क्या करें?'—कुछ नहीं, बस देखते चलें। उनको रोकना नहीं है, दबाना-कुचलना नहीं है। अच्छे विचार आवें, बुरे विचार आवें, भावना आवे, वासना आवे, आने दीजिये। वह आपका अन्तः स्वरूप है। आप शीशे के सामने बैठे हैं—रंग काला दिखता है, नाक टेढ़ी दिखती है, तो क्या शीशे को दोष देते हैं? जो जैसा है वही शीशे में दिखता है। वैसे मौन का दर्पण वही दिखायेगा जो आपका भीतर का स्वरूप है।···होता यह है कि अपना निरावरण रूप देखकर अच्छा नहीं लगता! क्योंकि हमने अपनी एक प्रतिमा (image) गढ़ी हुई होती है कि 'मैं भला आदमी हूँ।' माँ-बाप ने, मित्रों ने, सम्बन्धियों ने कहा है कि बहुत भला आदमी है। और जब देखने बैठे तो भीतर क्षुद्रता दिखी, छिपी हुई हिंसा सामने आई। इतनी क्षुद्रता, पामरता, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध भीतर पड़ा है। यह सब जब सामने आता है तब मनुष्य दहल जाता है, काँप जाता है। यह आत्मदर्शन अहङ्कार को ठेस पहुँचाता

है, प्रिय नहीं लगता, इसलिये आदमी आसन से उठकर भागना चाहता है कि 'यह मैं नहीं हूँ । नहीं हूं ।' यदि भागता नहीं है तो अपना बचाव या समर्थन (self defence, self justification) करने लगता है कि क्रोध स्वाभाविक है, मेरी माँ बहुत क्रोधी थी न ! बचपन में मुझ पर बड़े अन्याय हुए थे न ! उसका परिणाम है यह !'''इत्यादि ।

जैसा है वैसा अपना नग्न स्वरूप, अनावृत स्वरूप जो द्रष्टा की अवस्था में दिखता है, उसे देखने के लिये हिम्मत चाहिये, ताकत चाहिये। यह ऐरों-गैरों का काम नहीं है। अपनी बनाई सब प्रतिमायें चकनाचूर हो जाती हैं । इनका टूटना देखना होता है । यह देखने का काम शूरवीरों का है—'हरि नो मारग छे शूरां नो, नहि कायर नो काम जो ने ।' गाँधीजी का प्रिय भजन कि हरि का मार्ग तो शूरों का है, यहाँ कायर का काम नहीं है । हमारे दुखायल जी ने गाया था 'सर पर बाँध कफन जो निकले बिन सोचे परिणाम'–यह सर पर कफन बाँधने वालों का काम है ! जिनको अपनी प्रतिमायें ही प्रिय हैं, उनका नहीं !

लोगों के सामने नाटक करते आये शांत रहने का, उदार रहने का, अंदर जल रहे हैं ।—ऐसा जो कूड़ा-कर्कट अंदर पड़ा है, वह देखने के अभ्यास में सामने आता है । इस अभ्यास में जो स्थिर रहेगा, अपनी प्रतिमायें चूर-चूर होते जो देखेगा, उसका अहङ्कार गलता जायेगा । अहं की ग्रन्थि गलती है तब उसमें से सच्ची विनम्रता का निर्माण होता है कि 'हे प्रभो ! मैं दूसरों पर नाराज होता था उनके दोष देख कर, मुझमें तो इतने सारे दोष पड़े हैं । दूसरों को विकारी कहता था, मुझमें इतने विकार पड़े हैं ।' अब सहनशीलता आती है दूसरों के प्रति और आत्मवंचना, आत्मछलना से मनुष्य मुक्त होता है ।

अपने देश में अध्यात्म के ग्रंथ बहुत सुलभ हैं, इसलिये व्यक्तिगत और सामुदायिक आत्मवंचना-आत्मछलना की राष्ट्रीय बीमारी है यहाँ के मानस में। गाँधीजी का नाम लिया, खादी का कुछ काम किया, बिनोबाजी का नाम लिया, गीताप्रवचन की कुछ प्रतियाँ बेच दीं, तो मान लेते हैं कि गांधी जीवनदर्शन को हम जी रहे हैं । अरे तुम्हारा अपना जीवन तो देखो । उसमें कुछ भी परिवर्तन नहीं है । कहाँ से समाजपरिवर्तन करोगे ?···तो यदि नम्र जिज्ञासु है, सचमुच मनुष्य बनना चाहता है, तो अपना स्वरूप सामने आने पर पहला परिवर्तन आता है कि अहङ्कार विगलित होता जाता है, तब प्राञ्जल विनम्रता का विकास होता है। फिर व्यवहार में यदि गुस्सा आ गया और किसी ने कह दिया कि आप गुस्से में हैं तो हम यह नहीं कहेंगे—'मैं गुस्से में नहीं हूं मुझमें तो गुस्सा है ही नहीं, वह तो कोई दिला देता है तब आ जाता है···? बल्कि क्षमा माँगते हुए कहेंगे

कि 'हाँ भाई, मुझे गुस्सा आ गया, माफ करना।' सामने वाला कहेगा कि 'अरे इतने साल तक साधना की, इतने प्रवचन देते हो, फिर भी गुस्सा है? तो कहेंगे कि 'हाँ साधना में कमी है, यह कमजोरी रह गई है, माफ कीजिये।' ऐसे अपने प्रति अपना दोष स्वीकार करके और व्यवहार में वह दोष प्रकट होने पर दूसरों के सामने स्वीकार करके, क्षमा माँग कर प्रायश्चित्त करके आदमी शुद्ध हो जायेगा। अपने को शुद्ध बनना है न। अशुद्धि से मुक्त होना है। अशुद्धि कोई स्थूल बेड़ी नहीं है कि कोई आकर काट देगा। हमें इतनी युक्ति साधनी है कि व्यवहार में अशुद्धि पैदा न हो।

यह सीखे हम गाँधीजी से। कहीं रंचमात्र भी अशुद्धि दिखाई देते ही वे स्वीकार करते थे—'हिमालय जितनी बड़ी भूल हो गई, इसके लिये उपवास करता हूं।' एक बार कस्तूरबा ने जगन्नाथपुरी के मन्दिर में एक रुपया चढ़ा दिया। महादेव भाई भी साथ में थे। जब बापू को मालूम हुआ तो उन्होंने बा से कहा-'तेरा पति तो एक कौड़ी कमाता नहीं है, यह समाज उसको जिलाता है। तू एक रुपया कहाँ से लाई मंदिर में रखने के लिये?' फिर शाम की प्रार्थना सभा में कहा– "आज कस्तूरबा ने चोरी की है राष्ट्र की। इसलिये मैं २४ घण्टे का उपवास करूंगा। इसका पति कमाता नहीं, यह खुद कमाती नहीं, समाज हमें जिलाता है, और इसने एक रुपया मंदिर में रख दिया, जो समाज की संपत्ति थी। यह महादेव भी साथ में था इसने भी कुछ कहा नहीं।" कोई राजनैतिक नेता होता तो क्या ऐसा करता? महात्मा गांधी जीवन-साधक थे। प्रत्येक कर्म में से शुद्धि पैदा करते थे, इसलिये योगी की मृत्यु पाये। और हम?

अपने दोषों और भूलों के इकरार की और एक घटना याद आती है। एक बार पार्लियामेंट में पं. जवाहरलाल जी गुस्से में आ गये। (हम विद्यार्थी थे, अध्ययन करने जाते थे पार्लियामेंट में कि संविधान कैसे बनता है? संसद कैसे काम करती है?) डॉ. अम्बेडकर साहब पर गुस्सा आया था। नेहरूजी के दो तीन शब्द थे खास–'यह बदत्तमीजी है आपकी। शहूर नहीं है पेश आने का' ऐसी ही कुछ दो चार बातें कह गये थे। अम्बेडकरजी उठे और 'सेन्ट्रल हॉल' के पास M.P. लोगों के लिये जो कैन्टीन है उसमें जा कर बैठे। (अम्बेडकर साहब के पीछे-पीछे मैं भी गई। छोटी उम्र थी, विद्यार्थी दशा, उत्सुकता थी कि देखें अब क्या होता है? चुपचाप वहाँ जाकर एक कोने में बैठ गई। अंबेडकरजी ने चाय मंगाई थी, चुपचाप पी रहे थे) इतने में दौड़ते हुए पंडितजी आये। पीछे से आकर उनके कन्धों पर हाथ रखा और बोले 'अम्बेडकर साहब! हमारा स्वभाव गुस्सैल है न! गलती हो गई! आप से

माफी माँगने आया हूँ । चलिये-चलिये-वहाँ सभा में, वहाँ आप से माफी माँगनी है ।'···वहाँ कैण्टीन के बैरे खड़े हैं, अम्बेडकरजी के दो चार साथी भी आस-पास खड़े हैं । और देश का प्रधानमन्त्री दौड़ कर आ कर कहता है । 'माफ़ कर दीजिये। गुस्सैल स्वभाव से कह गया कुछ...' अम्बेडकरजी खड़े हो गये और बोले 'नहीं—नहीं, यह कुछ करने की जरूरत नहीं । मैं आप को जानता हूँ न !' पण्डितजी बोले 'मैं भी खुद को जानता हूँ। मेरे स्वभाव में दोष है । बड़ी गलती हो गई ।'...माफ़ी माँग कर उसी समय शुद्ध हो गये ।

इस प्रकार कर्म करते समय कोई अशुद्धि पीछे न छोड़ने, और भूल होते ही तत्क्षण माफ़ी माँगकर शुद्ध होने की ऐसी प्राञ्जलता, जागृति, विनम्रता साधक में आ जाती है यह द्रष्टाभाव के शिक्षण का पहला फायदा है । साधक वह है जो अहङ्कार में न फँसे । अध्यात्म पग-पग पर जीवन-व्यवहार में गुणात्मक परिवर्तन लाता है । यह आन्तरिक क्रान्ति का माध्यम है । हम नहीं बदलेंगे तो समाज में परिवर्तन कैसे लायेंगे ? साथ काम करने वाले साथियों से, मातहतों से, परिवार में भी बच्चों से पत्नी से दस बार झूठ बोले जायेंगे, पचास बार गुस्सा करेंगे, कितना अन्याय करेंगे, शोषण करेंगे—ऐसे क्या हम शोषणमुक्त, शासन-मुक्त समाज बनाने वाले हैं जो परिवार को भी वैसा नहीं बना पाते ? यह जो गान्धीजी का सत्य-अहिंसा का रास्ता है वह मांग करता है कि हम केवल कार्यकर्त्ता न रहें, जीवन-साधक बनें । समाज में रहते हुए अपने जीवन में व्यवहार में गुणात्मक परिवर्तन लाने वाली आंतरिक क्रांति है अध्यात्म ।

२२/२ का १० बजे का प्रवचन ध्वन्यङ्कित नहीं हो सका अतः यहाँ संग्रथित नहीं है । —सम्पा०

ॐ

प्रश्नोत्तरी

दि. २२/२/८४ अपराह्न ४ बजे

प्रश्न 'मन का मौन (Mutation of mind) होने पर सम्पूर्ण क्रान्ति घटित होती है'—इसके बारे में समझाइये ।

उत्तर (दीदी)—पहले तो मन किसे कहते हैं इसे देखना होगा । अंग्रेजी में बोलना होता तो Mutation of Mind पर बोलने में सरलता होती क्योंकि Mutation शब्द जीवविज्ञान (Biology) का है । उस सन्दर्भ में mutant और mutation की चर्चा करना आसान होता है । उस से अपरिचित व्यक्तियों के लिये जनसुलभ भाषा में कहने का प्रयास करूंगी ।

हम देखें कि मन क्या है ? कहाँ है मन ? कन्धे पर जो मस्तक है, उस के भीतर जो मस्तिष्क-द्रव्य (Brain fluid gray matter) है वह मन (mind) नहीं है । यद्यपि मस्तिष्क द्रव्य में ही मनुष्य की समस्त संवेदनाओं के बिन्दु निहित हैं, उन-उन बिन्दुओं पर मस्तिष्क में आघात पहुंचने पर, स्मृति का लोप, बोलने की शक्ति का लोप, देखने-सुनने आदि की शक्ति का लोप हो सकता है, संवेदना बधिर हो सकती है । किन्तु 'मन' का आशय मस्तिष्क नहीं हैं ।

मन कहते हैं चेतना रूपी ऊर्जा को । अंग्रेजी में जिसे consciousness कहा जायेगा । यह चेतना मस्तिष्क में भी है तथा नख-शिखान्त पूरे शरीर में भरी हुई है । यह स्पन्दनमयी अन्तःकाया है । (Mind is constituted of vibrations. It has a vibrational existence) ये स्पन्दन किस चीज के हैं ? आदि मनुष्य से लेकर आज तक जो विचार हुए, जो ज्ञान, जो अनुभूतियाँ, जो मूल्य बने, जो प्रतिक्रियाओं के ढाँचे बने—ये सब के सब अङ्कित हुए हैं सारे शरीर में प्रत्येक कोषाणु में—अस्थि-मज्जा स्नायु,नाड़ी रक्तकण सबमें, उस समस्त ज्ञान, अनुभव को निर्देशित करने का एक शब्द है—संस्कार (conditioning) । अतः मन है संस्कारित ऊर्जा (conditioned energy), या चेतना का संस्कारित भाग ।

ज्ञात के साथ जुड़े हुए इस मन का भी विश्लेषण करें तो समझने-समझाने के लिये उसके तीन भाग बतलाये जा सकते हैं । (१) वे संस्कार जो हमने बचपन से इधर-उधर देखते-सुनते-घूमते हुए वातावरण में से अनायास सोख (absorb कर) लिये । (२) माता-पिता द्वारा, विद्यालय द्वारा, समाज द्वारा

दिये गये संस्कार (assimilated throngh education & cultivation.) फिर, मनुष्य बड़ा होता गया । उसने कुछ आदर्श-ध्येय बनाये । कुछ मूल्याङ्कन किये । जीवन की कुछ अग्रिमतायें बनाईं । उन में से भी संस्कार बने ।

इन सब के नीचे संस्कारों की एक तह दबी है। जिन्हें (३) आनुवंशिक संस्कार (inherited conditioning) कहा जायेगा । माता-पिता की तरफ़ से जैसे शरीर में गुण-दोष आते हैं, शारीरिक विशिष्टतायें, लाक्षणिकतायें आती हैं, वैसी ही मन में भी आती हैं । उनके विचार, विकार उनकी प्रवृत्तियाँ, मान्यतायें, अतृप्त वासनायें, अर्धतृप्त इच्छायें-महत्त्वाकांक्षायें-यह सब का सब आनुवंशिकता से अपने को मिलता है । विश्लेषण करनेवालों ने इन संस्कारों का मूलद्रव्य पाया है R.N.A. (Rebo nucleous acid,) जैसे शरीरसंरचनागत आनुवंशिकता (Biological inheritance) के लिये B.N.A. देखा गया है ।

इसके भी नीचे (४) सम्पूर्ण मनुष्यजाति के संस्कार अपने में पड़े हुए हैं । वे यीशुख्रीष्ट की अनुभूतियाँ हों, लाओत्से-कॅन्फ्यूश्यस की हों, रामचंद्र या वासुदेव की हों, रामकृष्ण देव या रमणमहर्षि की हों-- ये सब संस्कार भीतर पड़े हैं ।

यह सब मिलकर बना है मनुष्य का **ज्ञात मन, संस्कारित चेतना** । इसके साथ मर्यादायें जुड़ी हैं । जो संस्कारयुक्त हुआ वह विशिष्ट दिशा में चलता है । उसकी अपनी जो काम करने की लीकें हैं–channels या grooves हैं, उनसे बाहर जाकर यह चेतना या ऊर्जा काम नहीं कर सकती । उदाहरण के लिये एक मर्यादा है कि यह संस्कारित चेतना शब्द की मदद के बिना चल नहीं सकती । आप प्रयत्न करके देखें तो पायेंगे कि कोई विचार, भावना, वासना शब्दहीन नहीं होती, शब्दमुक्त नहीं होती । विचार करने के लिये शब्दों की मदद चाहिये । शब्दों के अर्थ शब्दकोषों में लिखे हैं, परम्परा से बने हैं, रूढ़ियों के कारण बने हैं, शब्द की व्युत्पत्ति तथा निरुक्त से बने अर्थ वाच्यार्थ-लक्ष्यार्थ-ध्वनितार्थ हैं । इन सब की मर्यादा में वह चेतना काम करती है ।

शब्दों के अलावा और भी जो प्रतीक मनुष्य ने बना लिये हैं–काल,दिशा, गणित के–ये भी मर्यादा बनते हैं संस्कारित मन की । जीवन की सत्ता में समय नाम की कोई वस्तु नहीं । मनुष्य ने अपने व्यवहार की व्यवस्था के लिये काल की कल्पना की । सेकेण्ड, मिनिट, घण्टे, क्षण-पल, घटिका, प्रहर, दिन, रात, ३० अहोरात्र का महीना, १२ महीनों का एक वर्ष–ऐसे गिनते गिनते शतकों-युगों-

मन्वन्तरों तक की व्याख्या बनादी । उसीमें फिर भूतकाल,वर्तमान, भविष्य की व्यवस्था खड़ी की । जीवन की सत्ता तो शाश्वती है । उसमें भूत, वर्तमान, भविष्य कुछ नहीं । जीवन में 'यहाँ' और 'वहाँ' नहीं, कुछ 'समीप' और 'दूर' नहीं, 'पूर्व' 'पश्चिम' 'ऊपर' 'नीचे' आदि नहीं, 'छोटा'-बड़ा' नहीं । शाश्वती के साथ रहते हुए भी व्यवहार के लिए कुछ कल्पनायें, कुछ संकेत और उन्हें व्यक्त करनेवाले प्रतीक बनाये गये है । (So the human race lives with the concepts & the symbols, representing the concepts) सूर्य दिखा तो हमने कहा सुबह हो गई । सूर्य प्रखर होकर मस्तक पर आये तो कहा दोपहर हुई, धीमे-धीमे किरणें सिमटती गईं और सूर्य हमारी दृष्टि से ओझल हुए तो हमने कहा साँझ हो गई, सूर्यास्त हो गया; फिर अन्धेरा घिर आया, चन्द्र तारा दिखने लगे तो कह दिया वह रात्रि है । सूर्य के तो न उदय है न अस्त । हमारे देखने में अंतर पड़ता है, उसी से हम ने प्रतीक बनाये । फिर उनके साथ सहचारी भाव-श्रृंखला जोड़ते चले गये ।

ऐसे प्रतीकों को ले कर ही मन काम कर सकता है । मन की जो अङ्गभूत मर्यादायें (the organic limitations) हैं उन्हें पहले समझ लें तो मन का मौन क्या है उसे समझ सकेंगे ।

मन की अनेक मर्यादाओं में और एक देख लें । मनने भाषा बनाई है—'मैं' 'तू' और 'यह' की । 'अस्मद् युष्मद् इदम्' — की प्रतीतियां खड़ी की हैं । बारम्बार दोहरा कर इन्हें पक्का-ठोस बना दिया है । आँख खुली रूप दिखे, चेतना ने काम शुरू किया—अपने को मान लिया 'मैं'—विषयी-कर्ता या भोक्ता (The subject), सामने वाले को 'मैं' से अलग 'विषय' 'कर्म' 'भोग्य' (The object), सामने वाला अपने जैसा ही दिखा जिस से प्रतिसाद का सम्बन्ध बाँधा जा सके—तो उसे 'तू' (Second person) कहा । ऐसा यह त्रिविध प्रत्यय रूप चेतना का भेद मनुष्य के मनकी पैदाइश है । जरा स्वयं विचार करें तो कि यह 'मैं' क्या है जिस से अलग 'तू' आर 'यह' है !

रमण महर्षि की यह एक प्रिय युक्ति थी समझाने की । कोई प्रश्न पूछे तो सामने सवाल करते कि 'कौन प्रश्न पूछ रहा है ? प्रश्न कर्ता कहता 'मैं पूछता हूँ', तो वे कहते हैं कि 'मैं कौन हूँ ?' इसे खोजो तो ! 'मैं क्या बला है ?' विचार करने चलें तो पहले सामने आता है नाम । पर बच्चे के जन्म से पहले तो नाम नहीं था । जन्म होने के बाद दूसरों से उसे अलग पहचानने के लिये, व्यवहार चलाने के लिए नाम दिया गया । देह में जो स्त्रात्व—पुरुषत्व है,

उसके लायक नाम दिया। लेकिन देह में जो जीवन है, जो आंखों में से झांकता है, श्वांसों में बोलता है—उस के कहां स्त्रीत्व-पुरुषत्व है? उस को क्या नाम दिया जा सकता है? मिट्टी से एक पात्र बनाया, उसके आकार को नाम दिया 'घड़ा'। लेकिन घड़े के भीतर आकाश है उस के तो आकार है नहीं, उसे कोई नाम नहीं दिया जा सकता।... लेकिन हमने देह द्वारा व्यक्त होने वाले चैतन्य को नाम दिये—'तू राम है, शङ्कर है, मीरा है, तुलसी है!' उसी नाम से दस बार उसे पुकारते हैं तो वह मान लेता है कि 'मैं राम हूँ' 'मैं मीरा हूँ।' इस प्रकार नाम के साथ तदात्मता निर्माण हो गई। फिर, कहा जाता है 'राम काला है, दुबला है' 'शम्भु गोरा है मोटा है' तो देह के गुण-दोषों के साथ तदात्मता खड़ी हुई। फिर बच्चा कुछ बड़ा हुआ बोलने लगा, हलन-चलन करने लगा तो कहते हैं—'यह होशियार हैं, यह बुद्धू है' ऐसे भीतरी गुण-दोषों के साथ तदात्मता बनी। फिर 'तू लड़का है, तू लड़की है, तू पुत्र है, बहन है, पत्नी है, तू पिता है... तू हिन्दू है, तू मुसलमान है, तू ब्राह्मण है, वैश्य है, तू डॉक्टर है, इंजीनियर है, किसान है... एक के बाद एक तदात्मतायें जमा होती जाती हैं। इस प्रकार विश्लेषण करते जाँय तो पता चलेगा कि अहंचेतना के उपादान ये तदात्मतायें हैं। इन की तहों या परतों के जमाव से ही 'मैं'पना बना है। The amualgamation of identifications crystallized in human form is called the mind or the "Me."

सब तदात्मताओं को हटाया जाय, तब जो शेष रहेगा वह 'मैं' और 'तू' की भाषा में काम नहीं कर सकता। अभिप्राय यह है कि यह मन यानी चित्त-चतुष्टय (मन-बुद्धि-चित्त-अहङ्कार) जब काम करने लगता है तब इन मर्यादाओं को लेकर ही चलता है। भूतकाल के बिना, शब्दों और उन के जाने-सुने अर्थों के बिना समय के प्रतीक बिना, विचार-विकार काम नहीं कर सकते। Mind can never think without a world & can never function without a time.

प्रतीकों, संस्कारों, धारणाओं, मान्यताओं के क्षितिजों में बँधी हुई कैदी है अहंचेतना और मन। मनुष्य चाहता है 'मैं इसी मन के सहारे परमात्मा को मिलूंगा। यह मन मुक्त होगा। यह परमात्मा को देखेगा।... किन्तु यह मन न कभी मुक्त हो सकता है, न परमात्मा को पा सकता है। मन की शक्ति नहीं है प्रभु को पाने की या मुक्त होने की। 'मैं' क्या 'मुक्त' होगा? असम्भव है। भूतकाल के सब क्रिया-कलापों का निचोड़ ही मन बना है। यह जब काम करेगा तब भूतकाल के सारे सरंजाम को ले कर चलेगा।

तब कैसे क्या हो? इस मन से मुक्ति कैसे हो? इस मन के द्वारा यदि साक्षात्कार, प्रभु की उपलब्धि या मुक्तावस्था नहीं है तो मन के साथ क्या किया जाय? जैसे शरीर के वर्ण को घिस-घिस कर निकाला नहीं जा सकता है। वैसा करने जायेंगे तो जीवन का सारा रस सूख जायेगा। सारी सम्भावनायें खत्म हो जायेंगी। उस का उपयोग जहाँ है, वहाँ तो वह चाहिये ही। भौतिक पदार्थों के साथ व्यवहार करने के लिये मन चाहिये, बुद्धि चाहिये! साहित्य-संगीत-कला में मन-बुद्धि का भरपूर उपयोग करें। लेकिन अध्यात्म के क्षेत्र में, परमात्मा के साक्षात्कार के क्षेत्र में मन के सारे संस्कार, ज्ञान, अनुभूति सब असङ्गत बन जाते हैं।

अध्यात्म जीने के लिये मन की क्रान्ति घटित करनी होगी। मन स्वयं अपने में क्रान्ति नहीं ला सकता है। मन कहेगा कि मैं यह युक्ति करूँगा। तन्त्रयोग की मार्फत, हठयोग की मार्फ़त कुछ न कुछ Manuring करूँगा। अपने को शासन, दमन, पीडन, निग्रह, निरोध में डालूंगा। इस से वह सूख तो जायेगा लेकिन मुक्ति या क्रान्ति सम्भवित नहीं होगी अपने प्रयत्न के द्वारा। तो क्या करें इस को? इसे मौन होने का शिक्षण हम दे सकते हैं। अपनी मर्यादाओं का भान होने से और मेरे द्वारा मुक्ति की दशा तक पहुँचना सम्भव नहीं-यह self consciousness (स्वसंवेद्यता) जो मन में पड़ी हुई है, उस का उपयोग करते हुए पहले द्रष्टाभाव तक पहुँचे फिर मौन हो जाय। आज सुबह जो चर्चा की थी उसके अनुसन्धान में आगे चलें, तो दृश्य शान्त हो जाता है।

शुरुआत में हम आँख बन्द करके बैठते हैं तो मन मौन नहीं हुआ है। वह चलता है अन्दर ही अन्दर। उसके चलने को देखते रहें। दिखना स्थिर हुआ तो भीतर पड़े हुए चेतन-अचेतन-अवचेतन के सब संस्कार खुल कर सामने आ गये और हम देखते गये। हमारी अपने बारे में जो धारणायें, प्रतिमायें (images) थीं, वे टूट गयीं। उनका टूटना भी देख लिया। अहङ्कार विगलित होने लगा, वह भी देख लिया।

यह सब जिसने देखा, साहस और धीरज के साथ, उस के इस देखने का अन्त आयेगा, क्योंकि दृश्य समाप्त हो जायेगा। संस्कार अनन्त नहीं हैं। सान्त हैं। मनुजाति के प्रारम्भ से ही संस्कारों का प्रारम्भ है, अतः अन्त भी है। धीर-गम्भीरता से उन्हें देखते चले जायें, तो पहले तो प्रतिमायें टूटती हैं, फिर अतीन्द्रिय अनुभूतियाँ आने लगती हैं। अपने परम्परागत धर्म में जो सन्त हुए हों-उन की, अन्तत समस्त मनुष्यजाति के अनुभवों की अनुभूतियाँ आने

लगती हैं। ईसा दिखे, बुद्ध दिखे, अवलोकितेश्वर दिखे—यह पर्व आता है तब बड़ा सुख अनुभूत होता है। उनका एक नशा होता है। उसकी मादकता के कारण मनुष्य उस में अटक जाता है। चाहता है कि वह बारम्बार दिखें। सुप्त शक्तियाँ जागृत होती हैं और लोगों के सामने प्रगट होने लगती हैं। साधक के व्यक्तित्व में एक आकर्षण उत्पन्न हो जाता है। इन सुखों को मनुष्य छोड़ना नहीं चाहता है।

इस नशे में यदि मनुष्य अटका नहीं, बह नहीं गया, उन अनुभूतियों को शान्त होने दिया। उन्हें 'मैं' के साथ जोड़ कर कौतुक नहीं किया कि 'मुझे ऐसा अनुभव आया!'— तो उन में से गुज़र कर आगे निकला जा सकता है। यात्रा पर निकले हुए प्रत्येक साधक को यह दिखने ही वाला है। यहाँ से पटना जाते हुए यदि गंगाजी के दर्शन हुए तो क्या अनोखी बात है? इस रास्ते में गङ्गाजी हैं इसीलिये न दर्शन हुए। पर आमतौर पर व्यक्ति का 'गंगाजी' पर जोर नहीं —'मुझे दर्शन हुए'—इस पर जोर रहता है। ऐसा 'मैं' पर जोर आता है तो अतीन्द्रिय अनुभूतियों को परिग्रह की वस्तु मान लेता है। जैसे 'मेरा ज्ञान, मेरी सम्पत्ति, मेरी प्रतिष्ठा' वैसे 'मेरी अनुभूतियाँ!' अरे भाई, परिग्रह का क्षेत्र भौतिक हो या आधिदैविक हो, मानसिक हो या शारीरिक हो। परिग्रह की लालसा तो एक ही जैसी है। उस में कोई फर्क नहीं पड़ता। अतीन्द्रिय अनुभूतियों का परिग्रह कोई पवित्र नहीं बन जाता है।

कहने का तात्पर्य यह कि ये अनुभूतियाँ—सिद्धियां अटका सकती हैं मनुष्य को। इन से सावधान रहें। इनमें अटके—भटके नहीं तो दिखना शान्त होता है। दिखने के विषय और दिखना शान्त होने पर देखनेवाला अपनेआप विसर्जित होता है। इसे उदाहरण से देखें। —क्रिकेट में आप का 'बैट्समैन'का काम है तो आपने खेल के मैदान में आ कर बैट् हाथ में लिया तो 'बैट्समैन' बन गये; 'फ़ील्डिंग' करना है तो 'फ़ील्डर' हो गये। आप तो जो हैं वहीं हैं, हाथ में बैट् लिया या गेंद। फिर वे रख दिये और मैदान के बाहर बैठे हैं तो आप 'बैट्समैन' नहीं, 'फील्डर' नहीं, कुछ भी नहीं। आप वही हैं जो पहले थे। —ऐसे ही दृश्य विसर्जित होने पर देखना और दिखनेवाला ही क्या द्रष्टापन तक विसर्जित हो जाता है।

इस के बाद, जिस को मैं मौन का आयाम कहती हूँ, जहाँ मन का मौन (Mutation of mind) घटित हो सकता है, घटित होता देखा गया है, वह मौन का आयाम शुरू होता है। इस का आशय तर्क से समझना मुश्किल है। अध्यात्म जीवन का आयाम है, प्रयोगगम्य है। हमें निर्विचार अवस्था का

पता ही नहीं है। दिनरात विचारों का चक्र घूमता ही रहता है। दिन में जो काम करते हैं, उस में भी विचारों-भावनाओं का चक्र घूमता है, रात को सोने पर भी वही विचार-विकार चलते रहते हैं, इसलिए स्वप्न दिखते हैं। निर्दोष-निःस्वप्न निद्रा भी नहीं आती। विचारमुक्त अवस्था का प्रत्यय नहीं है। लेकिन विचार का जन्म कभी हमने देखा है? विचार का संवेदन जो भीतर पैदा होता है, वह शब्द का परिधान कब पहन लेता है? उसका स्फोट कब होता है? उसमें नाद कब आ मिलता है? अर्थ कब आकर जुड़ जाता है? इस विचार की यात्रा कभी देखी है देह में? देखने लायक चीज़ है वह।

विचार या विकार, भावना, वासना, इच्छा-आकांक्षा पैदा होते ही आप देखेंगे कि एक तनाव पैदा होता है पूरे नाड़ीतन्त्र में। विचारों के कारण तनाव पैदा होता है और इच्छा संवेग या वासना द्वारा शरीर के रसायन तन्त्र पर दबाव आता है। यह सामान्य अनुभव है। डर लगा तो उसका पहला प्रहार पेट पर होता है, पेट में सिकुड़न पैदा होती है और धक्का लगता है। गुस्सा आया तो एकदम मस्तक पर प्रभाव होता है। आँखें लाल हो जाती हैं, रक्तचाप बढ़ जाता है। ऐसा कोई विचार-विकार का हलन-चलन नहीं है जिस के कारण शरीर में विषमता न पैदा हो। निर्विचार और निर्विकार अवस्था का महत्त्व इसलिये है कि उसमें शरीर तनावमुक्त और दबावमुक्त रहता है। विचार कोई भी हो उदात्त या अनुदात्त, पवित्र हो पापमय हो, लेकिन इच्छा, वासना, संवेगात्मक क्रिया रासायनिक परिणाम लाती है।

The emotional movement of the thought releases neurological movement & neurological tension. दिन में सैंकड़ों बार विचार आते हैं और सैंकड़ों बार नखशिखान्त शरीर में तनाव आ जाता है। जिसको दिन में दस बार गुस्सा आया या डर लगा उतनी बार उस के गुर्दे-जिगर-पाचनग्रन्थियों तक परिणाम होता है। इन सब तनावों-दबावों से हम पीड़ित हैं। हमारी अन्तःकाया-मन-इन से ग्रस्त-त्रस्त-जर्जर है।

यह मिट जाता है जब कर्ता-भोक्ताभाव नहीं रहता। द्रष्टा भी शान्त हो गया। और मौन का साम्राज्य स्थापित हो गया। केन्द्र में 'मैं' नहीं है, और परिधि पर मेरा ज्ञान व अनुभव नहीं हैं, तो भोगना और देखना भी नहीं है, दिखना भी नहीं है। यह सब समाप्त हो जाने पर सम्पूर्ण विश्रान्ति की अवस्था है। (This is a state of total relaxation-neurological & chemical) यह शरीरगत तथ्य है।

ऐसे, मौन में मनोभौतिक शारीरिक स्थिति यह हुई कि तनाव-दबाव-मुक्त विश्रान्त अवस्था आ गई । व्यक्तित्व में जो खण्डितता विच्छिन्नता आई थी–वह समाप्त हो गई और आप अपनी समग्रता में लौट आये । Mutation या क्रान्ति घटित होने के लिये अब परिस्थिति अनुकूल बनती जा रही है । आप अपने आप में स्वधाम में लौट आये हैं । विश्रब्ध-विश्रान्त अवस्था हैं । विचार नहीं, विकार नहीं, मैं पने का भाव नहीं, 'तू'-पने का भेद नहीं । ऐसे इस शून्य के महासागर में, मौन के महालय में चेतना पहुँच गई है, और जैसे रसगुल्ला रसमें डूबा रहता है वैसे यह जो व्यक्तिगत चेतना (the Individual mind) है वह मौन के रस में भीतर के शून्य आकाश में डूबी हुई है ।

गोरक्षसंहिता में, शिवसंहिता में, शून्य के भीतर के आकाश के बारे में बहुत-कुछ लिखा गया है । यही खेचरी मुद्रा है । 'ख' यानी आकाश । उस में शब्द सो गये हैं, मौन में स्थिर हो गये हैं, नाद लुप्त हो गया है । ऐसी अवस्था में जो विराजमान है उसे 'खेचर' कहा गया है । 'खे चरति'—आकाश में विचरण करता है, आकाश में निवास है उसका । सांकेतिक भाषा है अध्यात्म की ।

यहाँ तक जो पहुँच गये उन में फिर विश्वव्यापिनी ऊर्जा काम करने लगती है । वह ऊर्जा मन या संस्कारों की नहीं, मस्तिष्क से परे है वह (Non cerebral energy) उसे ऋतम्भरा प्रज्ञा कह सकते हैं । The intelligence which is born of the emptiness of silence. इस आकाश में कितनी ऊर्जायें हैं ? कितने प्रकार के नाद के प्रवाह अभी वातावरण में हैं । कितने प्रकार के आकार-प्रकार तैर रहे हैं, रेडियो चालू करें या बहुत संवेदनशील 'लेन्स' वाला कैमरा हो तो उन्हें पकड़ पायेंगे । The emptiness of the space is full of life. It is full of innumerable energies. हम को इन आँखों से दिखता नहीं है, तो हम उसे खालीपन–रिक्तता कहते हैं, दिखे तो भरापन कहेंगे । शून्य कहो या पूर्ण कहो अपनी-अपनी तबियत है, वर्णन करने की शैली है । ऐसे जो चेतना को सोने देगा–शून्य में या मौन में—उसमें Mutation या क्रान्ति घटित होने की सम्भावना है । उसके अणु-रेणु के भीतर से आने-जाने वाली वैश्विक चेतना और उसके भीतर का शून्य—इनका मिलन होता है । The fusion of individual & the universal consciousness takes place, Mutation is the byproduct of the fusion, or the explosion between the individual and the universe. इसी को सूफ़ियों ने और रहस्यवादियों ने व्यक्तिचेतना तथा विश्वचेतना का परिणय कहा है । इस मिलन की एक घड़ी आती है मौन में ।

आप कहेंगे कि यह इतना सरल है तो क्यों नहीं हजारों लोग इस मौन में रहते ? नहीं रहते हैं, क्योंकि आधुनिक मनुष्य को बुद्धि का व्यसन है, तर्क करने का व्यसन है। वह यह समझता है कि जिस बुद्धि ने और विचारशक्ति ने विज्ञान और यन्त्रविज्ञान दिया है, साहित्य, संगीत और कला दी है उसी बुद्धि और विचार के द्वारा हम अन्तिम सत्य को भी पा लेंगे। परमात्मा को भी अपने विचार और अनुभूति का विषय बना लेंगे। यह तो सच है कि ब्रह्मसूत्र में कहा है—**'न एकान्तेन अविषयः'** यानी परमात्मा एकदम अविषय नहीं है। लेकिन वह बुद्धिगम्य या तर्कगम्य नहीं है।...यह जो बुद्धि की और मन की सारी क्रियाओं को, गतियों को समेट कर शान्त हो जाना यानी मौन की वेदी पर सभी मानसिक गतियों को आहुति के रूप में समर्पित कर देना है-इस के लिये जो समर्पण या शरणागति का भाव चाहिये, वह आज के युग में बहुत कम है। उसको लगता है कि बुद्धि के जोर पर सब कर लेंगे। बुद्धि के बल से चाँद-मंगल पर जा सकते है तो परमात्मा को क्यों नहीं पा सकते हैं ? इतना मनुष्य को अपनी बुद्धि और पुरुषार्थ का भरोसा है।

पुरुषार्थ जरूर चाहिये। आज सुबह ही तो मैंने पुरुषार्थ का महाकाव्य आप के सामने रखा है। लेकिन जैसे पक्षी को उड़ने को दो पांख चाहियें, वैसे मनुष्य के जीवन में पुरुषार्थ और प्रपत्ति, प्रणति, शरणागति ये दोनों चाहियें। कर्ता-भोक्ता-द्रष्टाभाव तक पुरुषार्थ का क्षेत्र है। उसके बाद व्यक्ति लीन हो जाय, और विनम्र हो कर शरणागत हो कर या समर्पित हो कर गतिमुक्त स्थिति में जीता रहे—यही आधुनिक मनुष्य से होता नहीं है। वह कहता है—कितने घण्टे मैं मौन में पड़ा रहूँगा ? उससे क्या-क्या होगा ? मुझे Time-table बताओ ! Blue print दे दो !... क्योंकि मौन के महालय में भी मन एक कोने में दुबक कर बैठना चाहता है कि क्या-क्या होता है-मैं देख लूंगा। अनुभूति के चिमटे में उसे पकड़ूंगा फिर कहूँगा मैंने पाया रे पाया ! —यह कोने में बैठकर प्रतीक्षा का तनाव रखना मौन को मार डालता है।

इसलिये आधुनिक मनुष्य जो बहुत हिसाबी, उपयुक्ततावादी (utilitarian) बन गया है। वह कहता हैं कि मैं ने यदि सारा ज्ञात का दायरा छोड़ दिया, शब्दों के किनारे भी छूट गये, कर्ता-भोक्ता-द्रष्टाभाव भी छूट गया, फिर कुछ भी नहीं हुआ तो क्या होगा ? क्या गारण्टी है कि होगा ही !...भाई, गारण्टी तो कैसे देंगे ? लेकिन 'अहं'ग्रन्थि-मुक्त (egofree, egoless) चेतना का जो आयाम है, जिस को मौन कहते हैं, उस में रहने के लिए जो तितिक्षा चाहिये, जो धैर्य और विनम्रता चाहिये, वह आधुनिक मनुष्य के पास नहीं है इसलिये क्रान्ति या मौन (mutation) घटित नहीं होता है।

सभी संस्कारों से मुक्त हो कर रहना,—घड़ी दो घड़ी का सवाल नहीं, अहर्निश उसी दशा में जीना होने लगे । वह जो मौन है, वह रचता चला जाता है, केन्द्रमुक्त और परिधिमुक्त चेतना रचती चली जाती है सारे शरीर में, रग रग में । सारी सृष्टि में व्याप्त जो विश्वचेतना है वह व्यक्तिगत चेतना का स्थान ले लेती है । (The Universal consciousness takes charge of you.) वह आप के साथ क्या करेगी ? कैसे करेगी ? जीवन में जो कुछ किया है उसे उलट-पुलट तो नहीं डालेगी ?—कुछ कहा नहीं जा सकता । किसी रमण को महर्षि बना कर अरुणाचलम् में तिरुवन्मलाई के पास बैठा दिया तो किसी विवेकानन्द को दुनिया घुमाया । रामकृष्ण परमहंस को दक्षिणेश्वर से बाहर जाने की जरूरत नहीं पड़ी तो जे. कृष्णमूर्ति को १५ साल की उमर से आज ९० साल की उमर तक चैन नहीं लेने देती घुमाती रहती है वह शक्ति । विश्वसत्ता में जिसकी जहाँ जैसी आवश्यकता होगी, वहाँ वैसे विनियोग वह शक्ति करती है । उसके लिये वह आप को कोई आश्वासन नहीं देगी कि आपने मकान बनाया है तो उस में आप को निवास करने दे । आप वैश्विक प्रज्ञा के अधिकार में हैं, वह आपके व्यक्तित्व का जो उपयोग करना है, करेगी । लेकिन वह वैश्विक चेतना, जगदम्बा जो चाहे वह नाम उसे दीजिये वह ठीक ही उपयोग करेगी इतनी श्रद्धा हम में नहीं है ।

हम चाहते हैं कि वह शक्ति पहले हमको सारा कार्यक्रम लिखकर दे दे । अरे ! भगवान् कोई आप के मुनीम हैं ? वे तो सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र हैं । पर मनुष्य यह खतरा उठाना नहीं चाहता । वह Mutation चाहता है, Radical revolution चाहता है, सम्पूर्ण परिवर्तन, समग्र क्रान्ति चाहता है, लेकिन उस का नतीजा पहले लिख कर दे दो ।...वह होता नहीं है । सभी व्यक्तियों के जीवन में Mutation के बाद का स्वरूप एक-सा नहीं बनता । कैसे किसके साथ क्या बीतेगा कहा नहीं जा सकता unpredictablity है । इसलिये लोग डरते हैं । मुक्ति चाहिये, लेकिन डरते-डरते चाहिये । आश्वासन की उंगली पकड़ कर वहाँ जा सकें-ऐसी चाहिये । वह होता नहीं है ।

मुझे कहना यह है कि physics में जैसे किसी पदार्थ की उष्णता को शून्यबिन्दु तक ले जाते हैं, वैसे आपको व्यक्तिचेतना की शून्यता तक जाना होगा तब एकाएक-अचानक अपने-आप अद्‌भुत रीति से उस शून्यता को प्राप्त चेतना की उत्क्रान्ति घटित होती है (Then the sudden and abrupt transformation in the mutant gets formed.) वह कोई निर्माण नहीं कर सकता । मौन तक जाने में हमारा पुरुषार्थ था । वहाँ हम पहुँच गये ।

उसके बाद हम 'हम' नहीं रहे । हम शून्याकार बन गये हैं । मौनमय बन गये हैं । वहाँ somebodyness (विशिष्ट व्यक्तिपना) नहीं रहा । हम कुछ न रहे, हम कोई न रहे । जीवन की अनेक अभिव्यक्तियों में से एक आप हैं अब । क्या मनुष्य की तैयारी है अपने आपको Reduce (विलीन) करने के लिये ? ऐसा शून्याकार होने के लिये ?

कहेंगे- 'ना बाबा । उससे जो हैं वहाँ अच्छा है । ज्ञात के किनारे खड़े रहो और अज्ञात के गीत गाया करो । सीमाओं के किनारे पकड़े रहना अच्छा है ।' ···लेकिन शून्यता में पहुँच कर तद्रूप हो जाना, विकार-विचार-मुक्त मौन में डूबे हुए रहना—यह पुरुषार्थ जो करेगा, उस विश्रब्ध विश्रान्ति में, आंतरिक शून्यता में जाकर रहने के लिये जो राजी होगा, उसके लिये है अध्यात्म ।

शुरू-शुरू में जब शून्य का स्पर्श होता है तो सारे शरीर के अणु-परमाणुओं के गुणधर्म बदलने लगते हैं । विचारों-विकारों के स्पर्श से यदि शरीर के गुणधर्म पर परिणाम होता है, अन्न के स्पर्श से गुणधर्म बदलते हैं तो शून्य के स्पर्श से रासायनिक परिवर्तन क्यों न आयेगा ? इन परिवर्तनों को सहन करने के लिये बल चाहिये । क्योंकि जीवन की जो समग्रता है उसमें बहुत उत्कटता है । विचार की गति से सहस्रगुनी गति मौन में है । विचारों की गति को मापा गया है । Huxley ने १९३७ में किताब लिखी थी Man the unknown. और भी किताबें हैं । Man the Phenominan, The Humanist Brain, Huxley के सम्पादित ऐसे अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं ।

मौन में रहते हैं तब जो उत्कटता और गहराई आती है उसका शरीर पर परिणाम होता है । इसलिये उस समय मनुष्य को दो सप्ताह के लिये या महीने-दो महीने के लिये सर्वथा एकान्त में रहना पड़ता है, ताकि शरीर के सभी ज्ञान-तन्तु उसको धारण करने की शक्ति कमा सकें । बड़ी नाजुक अवस्था हो जाती है । शुरू-शुरू में जब चेतना को पहले-पहल उस उत्कटता का स्पर्श होता है तो उसे धारण करने में व्यक्ति समर्थ नहीं होता ।

जब वापस व्यवहार में आते हैं तब ऐसा रहता है कि जब तक कोई काम नहीं है, तब तक वह व्यक्ति मौन में है । जैसे पखावज के अंदर शून्य है वैसे उसके देह में शून्य भरा है । कोई बजाये तो पखावज बोलेगा । वैसे सामने कोई व्यक्ति या प्रसंग आयेगा तो वह व्यक्ति देखेगा, प्रतिसाद देगा । कोई सामने नहीं हो तो क्या वह आँख बन्द करके बैठेगा ? नहीं, आँखें तो खुली होंगी, लेकिन वह दृष्टि 'किसी' (विशिष्ट विषय या पदार्थ) को नहीं देखेगी । पदार्थ और

स्वयं के बीच जो अंतराल-अवकाश (space) है उसी में उस व्यक्ति की नज़र रहेगी । हमारी आपकी आँखें खुली होती हैं तब किसी न किसी पदार्थ पर जा कर रुकती हैं । अभ्यास कीजिये कि आँख खुली है, पर नजर किसी पदार्थ पर जा कर रुकती नहीं है, मध्य के अंतराल में तैर रही है। जब 'कुछ' या 'किसी को' देखने की जरूरत नहीं है, तब नज़र निराकार शून्य अंतराल में स्थित है। जरूरत हुई—व्यक्ति, वस्तु सामने आई, तब उससे बात की, काम किया। बाकी समय Focus नहीं होता, व्यक्ति बेहोश रहता है ऐसा नहीं । बस वह किसी को देख नहीं रहा क्योंकि देखने का प्रयोजन नहीं है। हेतु नहीं, आकांक्षा नहीं, इसलिये वह शून्यावस्था में है। तब जो अद्वितीयता, असाधारणता उसमें आती है वह अनुभव करने की ही वस्तु है।

ऐसा कुछ समय जाता है एकान्त में। फिर जब व्यवहार में आते हैं तो लोग अंतर देखते हैं-बदलाव देखते हैं उस व्यक्ति में।...ईसामसीह जब ४० दिन उस पहाड़ी पर रहकर आये और नीचे उतरने लगे, तब उनके १२ शिष्य आपस में बात करने लगे कि 'अरे यह तो बदल गया। क्या यही 'नासरत' का 'जीसस' है? इसकी नज़र बदल गई है।' जब वह बोलने लगा तो देखा गया कि उसकी भाषा बदल गई। शरीर वही है पर चाल बदल गई।...ऐसे व्यक्ति बदल जाते जाते हैं जब विश्वचेतना और व्यक्तिचेतना का मिलन हो जाता है। अब उसको व्यक्तिचेतना नहीं कह सकते, विश्वचेतना भी नहीं कह सकते। ऐसी एक अलौकिकता जब मनुष्य में आती है तब कहा जाता है कि वह द्विज हो गया। उसका दूसरा जन्म हुआ है। देखने के लिये वही साढ़े तीन हाथ का देह है, लेकिन उसके भीतर ब्रह्माण्ड की घटनायें घटित हो रही हैं। उसकी चेतना ब्रह्माण्ड से सम्बन्धित है इसलिये उसका जो सञ्चार है, जो कार्य है, उसका अंदाज किसी को नहीं आता।

Mutation is not a result of any ones efforts. In the effortlessness of the total relaxation, mutation or the sudden transformation takes place as a happening. (मौन-क्रान्ति किसी के प्रयत्न का परिणाम नहीं। संपूर्ण विश्रान्ति की अनायासता में एकाएक यह उत्क्रान्ति घटित हो जाती है। वह एक घटना है।)

इसालिये हमारे रसिक पूर्वजों ने-उसे 'अनुग्रह' कहा है। Mutation कहने से लगता है कि 'मैं उसका निर्माण करूँगा। मेरा जीवन मैं बदलूंगा पूरी तरह से।' हाँ भाई, तू शरीर का व्यवहार और आदतें बदल सकता है। मन-वाणी-बुद्धि तक भी तू बदल सकता है, तू द्रष्टाभाव तक जा सकता है। मौन

के दरवाजे तक जा सकता है। उसके बाद तू समाप्त है। फिर तेरे पुरुषार्थ से कुछ नहीं होने का। अब जो करना है वह तेरे भीतर पड़ी विश्वचेतना करेगी। 'करने' का क्षेत्र जहाँ समाप्त होता है, और 'होने' का क्षेत्र शुरू होता है, वहाँ मौन (mutation) घटित होता है।

पुरुषार्थ का क्षेत्र पूरा करके प्रार्थना में जाना, फिर प्रार्थना से प्रणति में पहुँचना याने मौन में पहुंचना, यह जो कर सके, उसके जीवन में यह घटना–सम्पूर्ण परिवर्तन की, चैतसिक परिवर्तन की, मनमें से उन्मनी में जाने की, अतिमानस में आरूढ़ होने की घटना–घटित हो सकती है, होती आयी है, और मैं मानती हूं कि वह मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। मनुष्य का जन्म ही इसलिये है है कि मर्यादायुक्त संस्कारों में सीमित मनको लांघ कर अतिमानस में चला जाय।

यह जो मौन की अवस्था, उन्मनी, या तुर्यावस्था है वह चिरषोडशी है। ज्ञानेश्वर महाराज ने वर्णन किया-'उन्मनीचे लावण्य। तुर्ये चे तारुण्य। अनादि जे अगम्य। परम तत्त्व ।।' यह तुर्यावस्था चिरतरुणी है। वहाँ पहुंचने पर फिर थकान नहीं। मन के स्तर पर जब तक हैं, तब तक थकान है, उन्माद है, आघात-प्रत्याघात हैं। वहाँ यह कुछ नहीं। एकमात्र निर्द्वन्द्व अवस्था है। उन्मनी में 'मैं–तू' का भेद न होने के कारण, अभेद में से ही सब देखा जाता है। Now, perception is born from non-duality and out of spontaneity. प्रतिसाद सहजता में से आता है, दर्शन निर्द्वन्द्वावस्था में से होता है। यह जो मौन के बाद की अवस्था है, वह कभी म्लान नहीं होती, कुम्हलाती नहीं है। 'चिरषोडशी', 'चिर तरुणी', 'चिर लावण्यवती'—इन शब्दों में नाथ-सम्प्रदाय में इस अवस्था का वर्णन आता है।...

यह सब सुनकर हम क्या करेंगे? हम तो अपने शरीर, मन और वाणी को स्वच्छन्द में से संयम में ले जाने को ही प्रस्तुत नहीं हैं। शरीर मन और वाणी का शुद्धिकरण ही आत्मप्रकाश में परिणत होता है। हमें अपने जीवन का शुद्धिकरण करना है, जिससे संतुलन पैदा हो। संतुलन की अवस्था में यह परिवर्तन घटित हो सकता है। यहाँ तक की यात्रा के लिये जो जिज्ञासु साधक तैयार होगा उसके जीवन में यह घटना घटित होगी। केवल जिज्ञासु बने रहने से काम नहीं बनेगा। जिसने जिज्ञासा को जीवन के हर कर्म के साथ जोड़ दिया वह साधक बना। साधना-पथ में ही वह परममंगल अवस्था उदित होगी।

प्रश्न—विज्ञान के युग में आत्मसाधना होगी या सर्वनाश होगा? व्यक्ति केवल अपनी जीवनशुद्धि या आत्मशुद्धि करके समाज–परिवर्तन कर पायेगा क्या? सामुदायिक मुक्ति और सामुदायिक साधना की बात पर प्रकाश डालियेगा।

उत्तर—सामुदायिक साधना की बात मेरे ख्याल से स्वामी विवेकानन्द ने शुरू की। उनके बाद महर्षि अरविन्द, गांधी-विनोबा आये। वैज्ञानिक अध्यात्म के प्रथम प्रवक्ता थे रामकृष्णदेव! उनकी प्रेरणा से विवेकानन्द जी ने सामुदायिक साधना के प्रयोग प्रारम्भ किये। इस दिशा में पथ प्रशस्त किया गांधी-विनोबा जी ने। उनका कहना है कि यदि जीवन की सत्ता को हम चरम सत्य समझते हैं यानी हम-आप सब एकता के धागे में पिरोये हुए हैं, परस्पर सम्बन्धित हैं, विश्व-सृष्टि के सब कुछ का परस्पर सम्बन्धित होना यानी संकुलता को आप सत्य मानते हैं तो एक-दूसरे के साथ सत्यव्यवहार करना स्वाभाविक होगा। अन्यथा (असत्य—कपट आदि) कर नहीं सकेंगे। यही सामुदायिक साधना होगी।

इसलिए गांधीजी ने 'सत्य ही परमात्मा है'—ऐसा देखा, कहा। हम सब एकता के धागे से जुड़े हुए हैं तो झूठ बोलने से मैं दूसरे का उतना नुकसान नहीं करूँगा जितना अपना कर लूँगा। दूसरे के शोषण से मेरी साधना तो नहीं हो सकती। आर्थिक व्यवहार और आजीविका के नाम पर शोषण करता चलूँ और इधर मन्दिर-मस्जिद बनाऊँ, दान-पुण्य करूँ और मान लूँ कि साधना कर रहा हूँ—तो यह भ्रम हैं। गांधीजी ने नया सम्पूर्ण जीवन-दर्शन दिया 'बहुजन हिताय, बहुजनसुखाय'—नहीं—'सर्वजनहिताय, सर्वजनमङ्गलाय।' जिसमें सत्य आधार है और अहिंसा व्यवहार की नीति है। शोषणमुक्त उत्पादन-पद्धति, वितरण—पद्धति, आर्थिक व्यवस्था और आत्मानुशासन एवं ग्रामीण जनता के मार्फत केन्द्रित शासन की आवश्यकता को घटाते जाना।

गांधी—प्रणीत सर्वोदय दर्शन की व्याख्या में यहाँ उतरना नहीं है, लेकिन सर्वोदय दर्शन का जो पूरा कार्यक्रम है, वह सामुदायिक साधना का कार्यक्रम है। गांधीजी के जीवन में दिन का प्रारम्भ सामुदायिक प्रार्थना से होता था और अन्त भी प्रार्थना से ही। दिनभर पुरुषार्थ करना और दिन के प्रारम्भ तथा अन्त में दिव्य शक्तियों का आवाहन करना कि हमारे प्रयत्नों में वे सहयोग करें। नर का पुरुषार्थ और नारायण की कृपा—इन का मिलन होने के लिये जो सेतु—बिन्दु उपस्थित करना पड़ता है वही सामुदायिक साधना है।

अपने आप को विश्व से सम्बन्धित नहीं देखते हैं, इसीलिये सामुदायिक साधना नहीं होती है। उसीका फल है यह भूख, नग्नता, शोषण और जात—पाँत की यह ऊँचनीच। सर्वधर्म समान कहना, सभी मनुष्य समान कहना और बेटे—बेटी की शादी के लिये जात—पांत को देखना धर्मसम्प्रदाय को देखना, ऊँच—नीच का भाव रखना, अस्पृश्यता का भी भाव रखना और फिर आत्मा की, समदर्शिता की बातें करना। यह हमारा अध्यात्म एक राष्ट्रीय पाखण्ड बन गया।

इसलिये आज सुबह बहुत दर्द के साथ कहा था कि भारत जैसा अधार्मिक देश आज कोई नहीं है। दुहाई देते हैं धर्म की, अध्यात्म की, और जीने में द्वैत ही नहीं भेदभाव है, विषमता है। अध्यात्म कोई वाणी का विलास तो नहीं है।

आज तो विज्ञान भी जीवन की परस्पर सम्बन्धितता को तथ्य-रूप में स्वीकार कर रहा है। जनवरी ८३ में मैं उत्तरी अमेरिका के कैलिफ़ोर्निया में थी तो Phisics के जाने-माने वैज्ञानिकों के साथ बात हो रही थी तब उन्होंने कहा कि हम आप के बहुत निकट आ रहे हैं। (Physics is going nearer to Metaphysics now, The myth of seperation & seperatedness is exploded. हम जो यह मानते थे कि पदार्थ एकदूसरे से स्वतन्त्र हैं और स्वतन्त्र रीति से ही प्रत्येक का अध्ययन करने के बाद उन का रहस्य समझ में आयेगा—वह कल्पना उड़ गई है। हम देख सके हैं कि ये जो Matters के quantums of energy हैं ये बड़ी विचित्र रीति से एकदूसरे के साथ जुड़े हुए हैं।

इतना ही नहीं, आज विश्व के पदार्थवेत्ताओं के अग्रणी डॉ. डेविड बोन जो लन्दन युनिवर्सिटी में कार्यरत हैं और जो प्रायः २० वर्षों से श्री जे. कृष्णमूर्तिजी के अभिन्न साथी हैं, उन्होंने अपनी नवीनतम पुस्तक में कहा है-"The science of physics will have to turn around and instead of analysing particulars, will have to take cognigance of the wholeness of life." उन्हों ने कहा कि हम एक-एक विशेषों (Particulars) को लेकर पड़े थे, अब तो जीवन की जो समग्रता है, सम्पूर्णता है उसको लेकर, उस सन्दर्भ में Particulars (विशेषों) को देखेंगे। पदार्थविज्ञान (भौतिकी) को तत्त्वज्ञान की तरफ़ मुड़ना पड़ेगा, पदार्थों की स्वतन्त्र और पृथक् सत्ता में उन्हें देखने से बात नहीं बनेगी।

इस प्रकार अध्यात्म की दिशा में बहुत तेजी से विज्ञान बढ़ रहा है। अध्यात्म वैज्ञानिक दृष्टि को अपना रहा है और विज्ञान अध्यात्म के आधारों को देख रहा है। मुझे दिखाई देता है कि इस शताब्दी के अन्त से पहले इसी भारतवर्ष की भूमि पर विज्ञान और अध्यात्म के समन्वय से एक नया समन्वित जीवनदर्शन उद्भूत होने वाला है। Absolutely radically new perspective of life born through the synthesis of science & spirituality.

हमारे विनोबाजी १८५७ से कहते आये कि 'धर्मों के दिन लद गये अब अध्यात्म का युग, विज्ञान एवं अध्यात्म के समन्वय का युग आ रहा है।' तथा

'राजनीति के दिन लद चुकें, अब लोकनीति का दिन आ रहा है।'...आप देखिये आज राजनीति कहाँ खड़ी है? अपने हाथों से अपने पाँव पर कुल्हाड़ी मार-मार कर वह कैसे लोकनीति का आवाहन कर रही है!

खैर, सन्तों की, ऋषियों की वाणी कभी मिथ्या नहीं होती है। विज्ञान के युग में सामुदायिक आत्मसाधना होगी ही। मुझे लगता है कि परम भागवत महात्मा गांधीजी और ऋषिवर्य सन्तप्रवर विनोबाजी—दोनों ने मिल कर जो समग्र जीवनदर्शन दिया— विनोबाजी ने ब्रह्मविद्या का अधिष्ठान बताया और गांधीजी ने सत्य-अहिंसा के आधार पर मानवनिष्ठ अर्थतन्त्र और आत्मानुशासित नागरिकता के आधार पर राज्यसत्ता के विकेन्द्रीकरण की बात कही— यह मिल कर सामुदायिक साधना का स्वरूप अपने सामने है। चित्तशुद्धि-जीवनशुद्धि और समाजपरिवर्तन की प्रक्रियायें अलग नहीं होगी। जीवन जीने के कर्म से आत्म साधना का कर्म स्वतन्त्र नहीं होगा। आत्मसाधना के नाम पर कर्म का एक नया पसारा खड़ा करना—यह साधना नहीं है। जीवन जीने के कर्म में ही धर्म को उतर आना पड़ेगा। फिर वह नौकरी—धन्धे का कर्म हो या परिवार का, अथवा लोकसभा—विधानसभा के कार्य हों।

आज देश में इतनी विपरीत स्थिति है कि मेरी बातें आपको असम्भव-कल्पना (Utopia) लग सकती हैं। लेकिन स्वाधीनता के ये ३५—४० वर्ष भूल में रहने के बाद, ठोकरें खाने के बाद इस देश को आखिर अपने इतिहास—संस्कृति—सांस्कृतिक विरासत को देख कर नई पगडण्डियाँ बनानी पड़ेगी, नये रास्ते खोजने होंगे, नई पद्धतियाँ अपनानी पड़ेंगी।

ॐ

पञ्चम प्रवचन

दि. २३/२/८४ प्रात : ६.३० बजे

साधक को आहारशुद्धि के लिये बहुत सावधान रहना चाहिये। अन्न के साथ सत्त्वशुद्धिका बहुत सम्बन्ध है। जैसा अन्न लें वैसा पिण्ड बनता है। 'अन्नात् सत्त्वशुद्धिः'। जिनको साधक बनना है, ब्रह्मविद्या की उपासना करनी है, गांधीजी की सत्य-अहिंसा की साधना में उतरना है, या सर्वोदय का काम करना है, उनको मेरी दृष्टि से आहारशुद्धि का महत्त्व समझना चाहिये।... बाज़ार का, होटल का, बाहर का बना हुआ अन्न खाना शरीर को दूषित और विकृत बनाता है। प्रवास में चले हैं तो भले अपने साथ चना मूंगफली रहे, मुरमुरा—मकईदाना रहे, वही गुड़ के साथ खालें तो हर्ज नहीं। पास में थोड़ा पैसा हो कुछ केला—पपीता आदि मौसम के फल ले सकें तो वह ले लें, लेकिन बाज़ार का खाना साधकों के लिए अत्यन्त घातक तौर विषम है। जो व्यक्ति यह मानते हों कि चाहे जो खा लेंगे और तन—मन—बुद्धि शुद्ध रहेंगी वे भ्रम में हैं। श्रीमद्भगवदगीता से ले कर गांधीजी—विनोबाजी तक जो ख्याल रखा गया आहार के बारे में वह कोई धुनी लोगों सनक नहीं थी। घर में बना हुआ आहार लेते हैं तो उस में क्या ख्याल रखेंगे? ऐसा आहार साधक के लिए उपयुक्त होता है जिससे रक्त में उफ़ान (fermentation) या खमीर न पैदा हो। नमक—मिर्च ज्यादा लेते हों तो नमक की जो रासायनिक प्रकिया है रक्त में, उससे ईर्ष्या—द्वेष-क्रोध—काम विकार ज्यादा उत्तेजित होते हैं। बहुत खट्टा खाना- बहुत नमकीन या मीठा खाना भी रक्त में उफ़ान लाते हैं। गुड़ या शहद से वैसा खमीर नहीं पैदा होता जितना नमक और चीनी से होता है। चीनी बनने की प्रक्रिया में कैसी अशुद्धि आती है उसमें अभी नहीं उतरना है, और यह भी कहने का अभिप्राय नहीं कि आप नमक और चीनी बिल्कुल ही न खायें। पर जिनको साधना में आगे बढ़ना है, उनके लिये अनिवार्य होगा नमक—चीनी को घटाते जाना। गांधीजी ने १८०६ में नमक छोड़ दिया, विनोबाजी ने १२ वर्ष की आयु में नमक—मिर्च—मसाला यह सब छोड़ दिया। लेकिन वह तपस्वियों की बात है।

सामान्य गृहस्थाश्रम में रहने वाले लोग क्या कर सकेंगे? वे यदि कह दें कि यह नहीं खाता, वह नहीं खाता तो घर में मुश्किल हो जायेगी। लेकिन अति न हो, तली हुई चीजें न खाई जाँय। मिठाई बहुत न खाई जाय। बहुत नमक न खाया जाय। इतना ख्याल रख सकते हैं।

रक्त में खमीर पैदा होने से मौन और ध्यान की अवस्था जागृत नहीं हो पाती। वह रक्त का विकार है। उससे धातुसाम्य नष्ट होता है, वृत्तिसाम्य नष्ट होता है। यह वैषम्य ही विकार है। मैं नीतिशास्त्र की भाषा नहीं बोल रही हूँ, अध्यात्मरूपी विज्ञान की भाषा में बोल रही हूँ। उस वैषम्य को जितना टाल सकें टालें।

दूसरा मुद्दा है कि जब मौन में बैठना हो, उससे कम से कम ढाई घण्टे पहले भोजन हो जाना चाहिये। शाम को देर से भोजन किया और जल्दी ही मौन के लिये बैठ गये—यह होगा नहीं। पेट में जब अन्न पड़ा हुआ होता है तो उसका भार सीधा मस्तिष्क पर पहुँचता है। पेट का सम्बन्ध मस्तक में पड़ी हुई बहुत महत्त्वपूर्ण गांठ pituitary gland से है। पेट में अन्न का भार ले कर मौन के लिये बैठें तो नुकसान होता है। इसलिये सावधान कर देना चाहती हूँ। बहुत लोग हैं जो खाने—पीने का शऊर, व्यवस्था, सन्तुलन नहीं रखते और मौन—ध्यान के पीछे पड़ते हैं तो Nervous breakdown तक पहुँच जाते हैं। क्योंकि ज्ञानतन्तु बहुत भार नहीं सहन कर सकते। इसलिये ध्यान के लिये बैठना है तो भोजन के ढाई—तीन घण्टे बाद ही बैठना चाहिये। सामान्य शाकाहारी भोजन हो तो पूरा पचन होने में चार घण्टे लग जाते हैं। अन्न का अन्य रसायनों में रूपान्तरण होने में भी कम से कम ढाई घण्टे लगते ही हैं।

तीसरा मुद्दा हैं :—जिन को अभ्यास करना है वे एक जोड़ वस्त्र अलग ही रखें जिस से कि जब बैठना हो तब नहा-धो कर वही पहन लें। जो दिन भर के पहने हुए हैं या रात में पहन कर जिन में सोया गया है, उन्हीं कपड़ों में मौन के लिए बैठना उचित नहीं। क्योंकि जो सूती कपड़ा है वह विकारों के, विचारों के स्पन्दनों को पकड़ लेता है। ऊनी या रेशमी वस्त्र उतना नहीं पकड़ता।... यह जो वस्त्र रखेंगे मौन में पहनने के लिये, वह गहरे रंग का न हो। रंगों का परिणाम चित्त पर होता है। इतना ही नहीं, जो डिज़ाईन होते हैं कपड़ों पर, उनकी आकृतियों का भी परिणाम होता है चित्त पर, नाड़ियों पर, ज्ञानतन्तुओं पर। अतः अभ्यास के लिये बैठने का वस्त्र सफ़ेद हो तो उत्तम है, नहीं तो बहुत हल्के रंग का हो, आसमानी, दूधिया, गुलाबी, पीला—कोई भी हल्का सा रंग हो। इन रंगों और आकृतियों का भी विज्ञान है। इस तीन दिन के शिबिर में वह समझाने का अवसर नहीं।

बैठने के विषय में और एक मुद्दा कल कहा था कि जमीन पर कम्बल हो उस पर कुछ सूती या रेशमी आसन (सफ़ेद या हल्के रंग का) बिछा कर बैठें। दीवार का सहारा लेना हो तो लकड़ी का तख्ता बीच में रखें।

सीमेण्ट की दीवार या फर्श का सीधा स्पर्श हो तो उनकी मरी हुई ठण्ड का फेफड़ों पर, पसलियों पर, जिगर पर, जोड़ों पर बुरा परिणाम पड़ता है। इसलिये श्रीमद्भगवद्गीता के छठे अध्याय में आसन बिछाने के बारे में जो सूचनायें दी हैं, उन्हें ध्यान से देखें।

मौन–ध्यान, जप, नामस्मरण के लिये बैठना हो तो सूर्योदय से सूर्यास्त तक पूर्व दिशा में मुख कर के बैठें तो लाभ होगा। भगवान् आदित्यनारायण (सूर्य) की किरणों में अनेक प्रकार की शक्तियाँ हैं। पूर्व के अभिमुख बैठते हैं तो उस शक्ति को आप पर काम करने का मौका मिलता है। आप कहेंगे क्या पीठ के पीछे से वे काम नहीं करते? करते हैं जरूर, किन्तु पूर्व की ओर मुख करके बैठें तो–दो आंखों के बीच ललाट में जो आज्ञाचक्र है—भ्रूमध्य में एक छोटा सा त्रिकोणात्मक शून्य (cavity) है। वह आँख–कान तथा मस्तिष्क के साथ जुड़ी हुई बहुत सी महत्त्वपूर्ण नाड़ियों का संगमस्थान है। वहाँ सीधे यदि सूर्य की किरणों का प्रवेश होता है तो लाभ अधिक होता है। आँखें बन्द हों तो भी ललाट पर सीधे काम करने का यदि सूर्यकिरणों को मौका मिलता है तो आँखों की शक्ति भी बढ़ती है।... सूर्यास्त के बाद सूर्योदय तक, रात में किसी को बैठना हो तो पश्चिम की ओर मुँह रख कर बैठा जाय। सूर्यास्त के बाद भी पश्चिम दिशा में उन रश्मियों की शक्ति रहती है। इसलिये उन से लाभ लेना चाहिये। यह विज्ञान है। यह रूढ़ि नहीं। इन संकेतों के पीछे रहस्य छिपे हुए हैं।

बैठने के लिये दिन में कम से कम ४५ मिनट का समय रखें। इसके अलावा जिसकी जितनी अनुकूलता हो उतना दिन में तीन–चार बार बैठ सकें तो अच्छा ही है। लेकिन ४५ मिनट से कम न बैठा जाय। ४५ मिनट बैठने में शरीर की स्वस्थता, शून्य में उतर जाना इत्यादि प्रक्रियायें अपने आप होती है। १०—१५ मिनट तो शरीर को स्वस्थ होने में, ज्ञानतन्तुओं को व मन को शान्त होने में ही लग जाते हैं।

किसी ने पूछा है कि मन बड़ा चञ्चल है, शान्त नहीं होता, एकाग्र नहीं होता, तो क्या करें? यह तो पार्थ ने भी भगवान् कृष्ण से कहा था—'चञ्चलं हि मनः कृष्ण!' अब इस चञ्चलता का इलाज क्या है? चञ्चलता का उपाय आप ध्यान के लिये, प्रार्थना या मौन के लिये बैठेंगे तभी होगा ऐसा नहीं है। दिनभर के व्यवहार में उसका इलाज करना है। २० घण्टे के व्यवहार में चञ्चलता को प्रोत्साहन मिले और घण्टा दो घण्टे जब पूजा में बैठें तब मन एकदम शान्त हो जाय—यह नहीं हो सकता। अध्यात्म, मौन, एक जीवन-पद्धति है। इसलिये पहले व्यवहार में चञ्चलता का उपाय करें। फिर मौन में बैठने के समय की

चञ्चलता का उपाय सोचें। व्यवहार के समय क्या करें? जिन्हें साधना करनी है, सर्वोदय के लिये सेवा करनी है, विनोबाजी ने जिस ब्राह्मी दशा की बात कही है, उस में जो आरूढ़ होना चाहते हैं उनके लिये मैं बात करती हूँ।

चञ्चलता का एक इलाज है कि अपनी तुलना कभी किसी के साथ नहीं करना। हम हमेशा अपनी तुलना दूसरों के साथ करते हैं कि दूसरों के पास क्या है? वह हमारे पास है या नहीं? कैसे आयेगा? ऐसी तुलनाभरी दृष्टि-वृत्ति नहीं रहनी चाहिये। हम जो भी हैं, प्रभु ने जैसा पैदा किया, वैसे हैं। जो शक्ति है, जो मर्यादायें हैं, शरीर—मन और परिस्थिति के रूप में जो कुछ भी हमें मिला है, वह प्रभु का वरदान है। जो भी परिस्थिति प्रभुने हमारे लिये पैदा कर दी उस में उनका कोई संकेत है। वह हमें समझ में भले न आये, प्रिय लगे या अप्रिय लगे, पर तुलना न करें अपनी किसी से। न सोचें कि 'मैं तो ऐसा हूँ, और मुझे तो रामकृष्ण परमहंस बनना है, जे. कृष्णमूर्ति बनना है या विनोबाजी बनना है!' दूसरा कुछ क्यों बनना है भाई! जो तुम हो वही बने रहो न! अपनी सम्भावना क्या है वह देखो। सम्भावनाओं को खिलने दो। चञ्चलता का प्रारम्भ तुलना से, तुलना से उठनेवाली स्पर्धा से और और महत्त्वाकांक्षा से होता है। जो तुलना नहीं करेगा उसके चित्त को महत्वाकांक्षा नहीं सतायेगी। बड़ी बीमारी है वह। M.L.A. बने तो MP मन्त्री बनना है। मन्त्री बने तो मुख्यमन्त्री बनना है। फिर Central cabinet में जाना है। हजार रुपये हैं तो एक लाख कमाने हैं, लाख हैं तो करोड़ बनाने हैं। सभी दृष्टियों से मनुष्य तुलना में पड़ता है।

आपको जो सीखना है वह सीखें अवश्य। सीखने के लिये किसी के साथ तुलना नहीं करनी पड़ती है। तुलना विष है। तुलना स्पर्धा व महत्वाकांक्षा की ओर ले जा कर चञ्चलता को जन्म देती है। प्रत्येक व्यक्ति अद्वितीय है। भगवान् कहते हैं कि प्रत्येक के हृदय में मैं बसा हुआ हूँ। तो हमारे हृदय में भी प्रभु बसे हुए हैं। और जो कुछ हमें मिला है, उसी को ले कर हमें जीना है। जीवन उधारी से नहीं जिया जाता। न व्यवहार में जीवन उधार से चलता है न अध्यात्म में। यदि मैं अपने ऊपर रामकृष्ण देव के अनुभव लादने लगूँ? 'वैसे ही अनुभव मुझे हो रहे हैं, होने चाहियें!' —इसी भ्रम में रहूँ, तो जो कुछ मैं हूँ उसके साथ अन्याय होगा और परमहंसदेव तो बनने वाला नहीं। क्योंकि उनको बनाने वाली परिस्थितियाँ और संयोग अलग थे, मेरे संयोग अलग हैं। इसलिये चञ्चलता का पहला इलाज है कि तुलना न करें। जिस रूप में प्रभुने हमारा यह हाड़-मांस का विग्रह बनाया है—अपने बसने के लिये, उस से सन्तुष्ट रहें।

इसका अर्थ यह नहीं कि अज्ञान है तो अज्ञान से सन्तुष्ट रहो। अज्ञान के निराकरण की कोशिश अवश्य करें। कला का प्रेम है तो उसका अभ्यास करें। खेल का प्रेम है तो खेल का अभ्यास करें। शिल्पकारी में रुचि हो तो वह करें। अपने पिण्ड में रुचि किस के प्रति है, उसे देखकर उस मार्ग पर जितना आगे बढ़ सकते हैं, अवश्य बढ़ें। लेकिन तुलना किये बिना। यह एक पथ्य है, जिस को सम्हालना आवश्यक है। नहीं तो साधुसन्तों के आश्रमों में सत्सङ्ग में जाते हैं, गुरु के आश्रम में भी जा कर बैठते हैं और वहाँ भी तुलना किया करते हैं गुरुभाईयों के साथ। जैसे संसार में परिवार के भाई—बहनों या पड़ोसियों के साथ तुलना करते थे, वैसे ही 'गुरू ने किस की तरफ़ देखा? किस के साथ हँसे बोले! उस को यह मिला मुझे तो नहीं मिला!...' अरे जिस ईर्ष्या—द्वेष को, तुलना—स्पर्धा को ले कर कौटुम्बिक जीवन में दुःख मानते हो, वही आश्रम में जा कर पैदा करते हो!

तुलना—स्पर्धा—महत्वाकांक्षा ये तीनों साथ चलती ही हैं। उसके कारण फिर दिल में जलन है, कुढ़न है, असन्तोष है, आत्मग्लानि है। हजार प्रकार की बीमारियाँ मन पैदा करता है। परिस्थिति में उतना दुःख नहीं होता, जितना मन उपजा लेता है। मन के पास दुःख पैदा करने की बड़ी शक्ति है। उससे बचना है और चञ्चलता हटानी है तो किसी के साथ तुलना न करना यही एक बड़ी युक्ति है।

दूसरी युक्ति का कल मैं ने उल्लेख किया था कि जो घड़ी अपने को जीने को मिली है, जो दिन मिला है, उसको अपना अन्तिम दिन समझ कर, सम्पूर्ण शक्ति लगा कर पूरी सावधानता से उस दिन, उस घड़ी को जी लेना चाहिये। प्रभात हुआ। आपने आँखें खोलीं कि प्रभु ने आपकी गोद में २४ घण्टे नाम के २४ हीरे डाल दिये कि 'ले ये २४ घण्टे दिये हैं जीने के लिये'। वे मांगने नहीं पड़ते, और मांगने से मिलते भी नहीं। जो मिल गये हैं उनका यथाशक्ति यथामति से जितना अच्छा उपयोग हो सकता है, वह करना है। 'जो काल करे सो आज कर ले। जो आज करे सो अब कर ले' हम क्या मानते हैं 'नहि कल करेंगे, अगले सप्ताह करेंगे, अगले वर्ष करेंगे' हम जीने के कर्म को आगे धकेलते रहते हैं, वर्तमान में, आज इस घड़ी में जीवन है। उसे प्रमाद, आलस में नष्ट नहीं किया जा सकता।

यदि वर्तमान घड़ी को अन्तिम समझ लेंगे तो उत्कटता, शक्ति सबको लगा कर जियेंगे। जीने के कर्म को स्थगित मत कीजिये। आने वाले कल पर ढकेलिये नहीं, क्योंकि आने वाला कल कभी नहीं आता है। जो दिन आता

है, वह 'आज' होता है । कल्पना है आने वाले कलकी । उस 'कल' के भरोसे जो जीते हैं, उनका मन चञ्चल बनता है । क्योंकि वे कहते हैं कि आज यह कर लूँ, कल वह करुँगा । अरे भाई, आज को जियो ! यह दूसरी युक्ति है। मन को चञ्चलता से हटाकर वर्तमान में प्रतिष्ठित करना है। कहना उसे कि जो कुछ तुझे करना है वह अभी कर। ऐसे जुटे रहेंगे तो वह सावधान रहना सीखेगा ।

वर्तमान के साथ जो भिड़ गया, उसको फिर इधर-उधर भटकने की जरूरत नहीं । मान लीजिये घर में आग लग गई । तब मनकी चञ्चलता कहाँ चली जाती है? एकदम सारी शक्ति, सारा ध्यान आग बुझाने पर केन्द्रित होता है। क्योंकि मालूम है कि घर अगर राख हो गया तो रहेंगे कहां? इतनी मेहनत करके जो माल-असबाब जुटाया है वह फिर कहाँ से लायेंगे? वैसे आज का दिन अगर हाथ से निकल जायेगा तो फिर जीने का कर्म रह जायेगा । यह जिसकी समझ में आया, उसकी चञ्चलता के लिये, इधर-उधर भटकने के लिये कोई कारण नहीं है ।

तीसरी युक्ति बताऊँ जो हजारों वर्षों से संतों ने, भक्तों ने आजमाई हुई है। आपको प्रभु का जो रूप प्रिय हो, उसको पकड़ लीजिये। आप मौन बैठना चाहते हैं, आँख भी बन्द की है, पर मन भटकता है, उस मन को वापस लाने की शक्ति आपमें नहीं है। पकड़ कर लाये तो दूसरे ही मिनिट दूसरी तरफ चला गया। वहाँ से पकड़ लाये तो कहीं तीसरी तरफ दौड़ गया। उसको आप अपने पुरुषार्थ से नहीं पकड़ पा रहे हैं तो प्रभु का नाम लीजिये । जो नाम प्रिय हो। राम, हरि, देवी शिव, वासुदेव, प्रणव (ॐ) या जैनों का नौकार मंत्र जो भी प्रिय है उसी को बोलने लगिये अन्दर । जब आप अन्दर से मन्त्र या नाम बोलने लगेंगे तो उसमें जो नाद है और अर्थ है वह मन को खींच लायेगा। थोड़ी देर के बाद, नाम ले रहे हैं फिर भी मन भटकता है तो जोर से बोलिये। उपांशु जप के बदले वैखरी जप करने लगिये। फिर भी मन भटके तो भजन गाने लगिये। जप में जो स्वर-ताल का सहाय नहीं है वह मदद भजन गाने में मिलने लगेगी। उसमें शायद मन रम जायेगा। मन को जो चीज़ प्रिय है वह मिल जाय तो वह एकाग्र हो जायेगा। ऐसे, मौन में मन भटके तो नाम का सहारा, उससे न माने तो रूप का सहारा, रूप से भी काम नहीं बने तो संगीत लें । ध्वनि-स्वर-लय-ताल सब की मदद जुटा दीजिये ।

ये कोई उपाय काम न करें तो फिर रो-रो कर प्रभु से प्रार्थना कीजिये कि 'हे प्रभो ! मेरा मन बड़ा पापी है, किसी तरह शांत, एकाग्र नहीं होता है।

आप ही आइये, इस मन को शांत कर दीजिये। फिर तो अत्यंत विनम्र होकर निरहंकार आर्त होकर प्रभु से भिक्षा मांगनी चाहिये कि प्रभु आपही इसे सम्हालिये मुझसे बन नहीं पड़ता। आप कीजिये।'

आधुनिक मनुष्य के पास इतनी श्रद्धा नहीं है। उसके आंसू नहीं आते हैं प्रभु के नाम से। उसे लगता है मेरे करने से सब हो जायेगा। प्रभु क्या करते हैं फिर ? जो बहुत जोर देता है 'मैं' पर कि 'मैं प्रयत्न करूँगा, मैं क्या नहीं कर सकता ! करके रहूँगा'''—उस पर प्रभु इतने प्रहार करते जाते हैं कि उसका करना कहीं एक तरफ भी यशस्वी नहीं होता। 'यह करके देखूँ'''वह करके देखूँ।'''जहाँ-जहाँ वह कर्तृत्वाभिमान को लेकर जाता है-वहाँ ठोकर खानी पड़ती है।

पुरुषार्थ से जहाँ तक जाया जा सकता है, जो कुछ किया जा सकता है वह पूरी शक्ति खपा कर अवश्य करना है, उसमें रंचमात्र भी प्रमाद-आलस को आने नहीं देना है। वह साधक का स्वधर्म है। आहार-विहार की शुद्धि साधी, एकान्त में बैठे। कमरा भी बन्द कर लिया है। आँखें बन्द कीं। सभी स्वायत्त क्रियायें, गतियाँ समेट लीं। मन को भलीभाँति समझा-बुझा कर तुलना-स्पर्धा-ईर्ष्या महत्त्वाकांक्षा-कल्पना या दिवास्वप्न-अभिमान आदि से विरत करने की पूरी कोशिश कर देखी। फिर भी भटकना-चञ्चलता बनी रही तो प्रिय नाम-रूप का सहारा लिया। भजन गाये। शुद्ध सङ्गीत में-कला में मन को पिरोया। फिर भी वह शांत नहीं होता है तो एक बार शरणागत हो कर क्यों नहीं कहा जा सकता कि 'हे प्रभो! अब मेरी शक्ति की मर्यादा आ गई है। अब आप आइये।'''पुरुषार्थ की पराकाष्ठा करो, उसमें मनुष्य का गौरव है। लेकिन पुरुषार्थ ही अंतिम प्रमाण नहीं है। पुरुषार्थ में सम्भावना है अहंकार की। इसलिये प्रयत्न जहाँ विफल हुए वहाँ निराश नहीं होना, बल्कि प्रयत्न के साथ प्रपत्ति को जोड़ देना कि 'सब करके देखा भगवन् ! नहीं बन पाता है मुझसे। अब आप करा लीजिये'।

ये कौन से प्रभु हैं ? जिनकी बात की जा रही है? मैं तो सर्वव्यापी प्रभु को जानती हूं जो घट-घट-वासा हैं, कण-कण में व्याप्त हैं। आप जब करुण होकर पुकारते हैं, हृदय से आर्त्त पुकार उठती है, अहंकार विगलित होकर आर्जव बन जाता है, तब सच्ची प्रार्थना होती है। जैसी बापू की प्रार्थना में उठती होगी, विनोबाजी की प्रार्थना में उठती होगी, वैसी आर्त्त पुकार जब उठती है तो कण-कण में व्याप्त जो ऊर्जा है, वह किसी न किसी रूप में मूर्त्त हो जाती है। किसी न किसी रूप में आकर मदद कर देती है चित्त के एकाग्र होने में। परमात्मा के अवतार केवल २४ होकर समाप्त नहीं हो गये हैं। दशावतारों में

कल्कि तक ही भगवान् का अवतार समाप्त नहीं हो गया है। आज भी, इस घोर कलिकाल में भी जहाँ ऐसी सच्ची आर्त्त पुकार उठती है, वहां किसी न किसी रूप में भगवान् प्रकट होते ही हैं।

आप कहेंगे कि भावना की बातें कर रही हैं। किन्तु यह सत्य-तथ्य निवेदन है। अपने जीवन में घटी हुई ऐसी घटनायें मैं बहुत कम ही क्वचित् ही कहती हूं, लेकिन परमात्मा सब जगह सब समय हाजरा-हुजूर हैं ही इसके सबूत साधक के जीवन में कैसे आते हैं यह समझाने के लिये एक घटना बता रही हूं। मेरे जीवन में अनेक संत आये हैं। उनमें एक थे तुकड़ोजी महाराज। महाराष्ट्र में बड़े सुविदित थे। १९६८ में वे कैन्सर से पीडित थे। उन्होंने ७ –८ महिने पहले ही लिखा था कि इस शरीर में यह बीमारी प्रवेश करेगी। इस तारीख को इस देह का अंत होगा यह सब लिखकर सीलबंद करके रख दिया। उनके जाने के बाद उनकी संस्था का क्या करना है यह भी लिख कर बन्द करके महाराष्ट्र के गवर्नर के पास दे रखा था। जब वे बीमार हुए और डॉक्टरों के कहने से पता चला कि अब बचेंगे नहीं, तब गवर्नर साहब ने पूछा कि महाराज! कोई इच्छा है? उन्होंने कहा कि हाँ मेरी एक लड़की है विमला, लेकिन इस समय वह हिन्दुस्तान में है नहीं, कहीं योरप-अमेरिका में है। वह आती तो एक बार देख लेते।' गवर्नर साहब ने ढूँढ निकाला। मैं उस समय नॉर्वे में थी। फोन गया मेरे पास कि महाराज ऐसे बीमार हैं और याद कर रहे हैं। मैंने बम्बई में एक मित्र को फोन किया कि "ऑस्लो' (नार्वे का एक शहर) से बम्बई और वापस 'ऑस्लो' का एक वापसी टिकट विमान का लेकर Telegraph द्वारा मेरे पास भेज दो। कहीं से भी ऋण लेकर जल्दी यह कर लो। मैं आकर वह ऋण चुका दूंगी।' नौ हजार के आस-पास टिकिट आती थी, और मेरे पास अपनी एक कौड़ी भी नहीं थी। मैं कहाँ से पैसा लाती यह मुझे मालूम नहीं, या इतना ही मालूम था कि सन्त की यह इच्छा है तो भगवान् को पूरी करनी ही पड़ेगी। इतना ही मैं जानती थी।

मेरे पास टिकिट पहुँची! ४८ घण्टे में मैं बम्बई आयी। बम्बई के विमान अड्डे पर उतर कर, कस्टम विभाग में से हो कर ज्यों ही बाहर आती हूँ तो एक सज्जन सामने मिलते हैं। देखने में लगा कोई राजवंशी होंगे। वे कहने लगे 'आप विमला देवी हैं।' मैं ने कहा 'जी हाँ।' बोले आपसे बहुत जरूरी काम है। मैंने कहा चलिये डेरे पर। मेरे मित्र मुझे लेने आये थे। हमारे पीछे-पीछे वे सज्जन अपनी मोटर में आये। घर जाकर सब बैठे। मैंने कहा 'फरमाइये क्या काम है?' उन्होंने अपनी बैग खोल कर नोटों का बँधा हुआ बण्डल खोला।

कहने लगे 'यह आपको देने के लिये आया हूँ।' मैंने कहा 'महाशय ! मैं तो आप को पहचानती नहीं हूँ।' वे बोले 'मैं भी आपको नहीं पहचानता हूँ। लेकिन सात दिन हो गये हैं, स्वप्न में जगदम्बा माँ आती हैं, और आदेश देती हैं कि फलानी तारीख को अमुक हवाई जहाज़ के अड्डे पर चले जाना। इस नाम की व्यक्ति को इतनी रकम पहुंचा देना। मेरे सारे जीवन में ऐसा आदेश 'माँ' (देवी) ने कभी नहीं दिया। आज सात दिन से रोज यही आदेश पा रहा हूँ। यह रकम लीजिये। मैं माँ की सेवा कर रहा हूं।' मन ही मन प्रभु को प्रणाम कर मैंने कहा अच्छा। पास बैठे हुए मित्र से पूछा कि भाई टिकिट लेने भेजने की सब व्यवस्था में कितना खर्च आया? उन्होंने रकम बताई, नौ हजार ६ सौ से कुछ ऊपर थी। आये हुए सज्जन ने रकम गिनी तो नौ हजार सात सौ थी। तब नौ हजार ६ सौ मित्र के हाथ में रख देने के लिये मैंने कहा। जो एक सौ बचा, उसमें से बम्बई से महाराज के पास पहुंचने के लिये ट्रेन की टिकिट खरीदी और वहां गई। जब महाराज की मृत्युशय्या के पास पहुँचती हूं तो आँख खोल कर मुस्कुरा कर धीमे से महाराज पूछते हैं–'बेटा ! रकम पहुंच गई थी?'···

अब आप मुझे इसका विज्ञान समझाइये। तुकड़ोजी महाराज मृत्युशय्या पर पड़े हैं। उनको क्या पता? जिन सज्जन ने मुझे रकम दी थी, वे थे औंध स्टेट के राजा। महाराज उन्हें जानते नहीं। उन्हें क्या पता था कि कौन कैसे रकम पहुंचायेगा? उन्हें इतना ही पता था कि मरने से पहले विमल को देखने की मेरी इच्छा है। मेरे प्रभु उसको पहुँचा देंगे। इधर मुझे इतना ही मालूम कि महाराज की इच्छा है तो व्यवस्था हो जायेगी।···

ऐसे 'परमात्मा हैं' इसे साबित करने वाली इतनी घटनायें आँखों देखी हैं कि लिखें तो बहुत बड़ा ग्रन्थ हो जाय।···उनका कौन सा रूप है, वे कहाँ रहते हैं–इससे मुझे मतलब नहीं, सब उन्हीं के रूप हैं। वैसे तो रूपातीत हैं, नामातीत हैं। लेकिन भक्त जब उनको अपने भाव तथा श्रद्धा से नाम और रूप पहना देता है, तब उस रूप में भी वे आकर खड़े हो जाते हैं। और जब कभी संकट की घड़ी हो तब किसी न किसी रूप में आकर खड़े हो ही जाते हैं। औंध के राजा साहब का कहीं कोई संपर्क नहीं था हमसे। लेकिन उस समय उन्हें निमित्त बना कर परमात्मा ने काम किया, सन्त तुकड़ोजी महाराज की इच्छा पूरी करने का। संतों के साथ प्रभु की जो लीला चलती है उसे मैंने इस प्रसंग में देखा।

"अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेम वहाम्यहम् ॥"

यह बात हजारों वर्ष बाद इस घोर कलिकाल में भी उतनी ही सही है जितनी कि द्वापर में रही होगी।

इसलिये जहाँ अपने पुरुषार्थ से काम नहीं चलता, वहाँ आप रोम-रोम से पुकार कर देखिये। जो भी नाम प्रिय हो। नाम नहीं तो ॐ का ही गहरा उच्चारण कीजिये, विश्वभर के सभी धर्मों में किसी न किसी रूप में स्वयम्भू नाद का प्रतीक ॐ मिलता ही है प्रार्थनाओं में वैदिक संस्कृति में प्रणव को 'एकाक्षरं ब्रह्म' कहा है। ॐ की साढ़े तीन मात्राओं में ब्रह्म समाया है।

'परमात्मा हैं'—भारतीय संस्कृति के इस उद्घोष पर मेरी बहुत श्रद्धा है। मेरे हित में जो होगा वही वे करेंगे। मुझे जो प्रिय होगा वह करेंगे—यह नहीं मुझे महत्त्वाकाँक्षा के कारण, स्वार्थ के कारण, जो चाहिये वह प्रभु देंगे-यह मैंने कभी नहीं माना। लेकिन जो मेरे हित में होगा, कल्याण में होगा, जिसमें मेरा मङ्गल छिपा होगा-वह हुए बिना नहीं रहेगा। अपने से जितना होता है उतना करो और जो नहीं होता है, जहां शक्ति पूरी नहीं पड़ती है, वह प्रार्थना के द्वारा कमाओ, यह विनय, यह नम्रता, निरहङ्कारिता रहे। यह न मानें कि हमारे करने से ही सब होगा। और हमारे करने की पकड़ में यदि नहीं आते हैं तो परमात्मा हैं ही नहीं। यह असंभव है।

आज वे धरती पर उतर नहीं आते हैं क्योंकि पांच पाण्डवों जितनी सज्जनता भी आज विश्व में रही नहीं है। कहां पाँव रखेंगे? कहाँ प्रकट होंगे? कोई देवकी—वसुदेव मिलें, तब तो वे गर्भ में आयें! कोई द्रौपदी मिले, तब तो उसकी पुकार पर दौड़ कर आयें! कोई अर्जुन, उद्धव, विदुर मिलें तब तो गीता, उद्धवगीता विदुरनीति रची जाये!

अंतिम बात कहूं कि 'मन चञ्चल हैं, चञ्चल है' कह कर मन को कोसना नहीं। वही अपना मित्र है। उसको दबाना, कुचलना नहीं। उसे मित्र बना लेना, साथी सहयोगी बना लेना! इसका अर्थ यह नहीं कि मन जो प्रतिक्रियायें लाये उनके आधीन हम हो जायें। मन के पुजारी नहीं बनना है। मन कहे कि 'यह काम मुझे पसन्द नहीं है', बुद्धि कहे कि 'पसन्द हो या हो, यह तेरा धर्म है,' तो मन की प्रतिक्रिया के पीछे नहीं चलना, प्रतिक्रिया को लाड़ नहीं लड़ाना। मनको कहना कि 'पसन्द नहीं तो तू चुपचाप कोने में बैठ भाई। बुद्धि कहती है, यह उचित है, आवश्यक है, अतएव मैं करूँगा। मन कहे कि 'मुझे वह आदमी अच्छा नहीं लगता'—तो कहना 'भले तुझे अच्छा न लगे। उस आदमी को भी भगवान् ने बनाया है। उसे भी इस दुनिया में रहने का उतना ही अधिकार है, जितना तुम्हें है। उसके साथ जीने का मौका तुझे दिया है तो जरूर कोई न कोई ऋण चुकाने के लिये प्रभु ने उसके साथ तेरा सम्बन्ध जोड़ा है।

मान लीजिये किसी के साथ बहुत आसक्ति है, तो प्रभु ऐसे कृपा-कठोर हैं कि दूसरे जन्म में उसे आपके घर में पुत्र या कन्या के रूप में पैदा करेंगे और वह व्यक्ति आपका बहुत तिरस्कार करेगा। क्योंकि आसक्ति में से मुक्त होने के लिये विपरीत औषधि देनी पड़ेगी। ऐसे ही आपने इस जन्म में किसी का बहुत तिरस्कार किया है, अकारण या सकारण भी, और उस तिरस्कार या घृणा को व्यक्त नहीं कर पाते हैं। तो अगले जन्म में प्रभु उस व्यक्ति को आपका कोई घनिष्ठ सम्बन्धी बना कर साथ रखे बिना नहीं रहेंगे। बड़ा चतुर धन्धा करते हैं वे नटखट नटवर नागर। जब तक आप उस व्यक्ति के साथ प्रेम से नहीं जियेंगे ऋणानुबन्ध पूरा नहीं होगा। इसीलिये कहा गया- 'युध्यस्व विगतज्वरः'। बहुत आसक्ति, बहुत द्वेष, बहुत नफरत—यही करते रहेंगे तो इनके अवशेष इतने रह जाते हैं कि मरने के बाद दूसरा शरीर धारण करके उसमें से मुक्त होना पड़ता है। क्योंकि मनुष्य-जन्म का प्रयोजन है-विचारों-विकारों में से मुक्त होकर 'निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो' 'निस्त्रैगुण्यो' 'आत्मवान्!'—ऐसी अवस्था प्राप्त करना। This is the culmination of human growth.

इसीलिये तो विनोबाजी ने लघुमार्ग पकड़ा दिया कि ब्रह्मविद्या की उपासना करो, इसी जन्म में काम करते-करते, समाजसेवा करते-करते ब्रह्मविद्या का अधिष्ठान पैदा करो। आसक्ति-विरक्ति दोनों से मुक्त हो जाओ, हर्ष-शोक दोनों छोड़ दो। सुख आयेगा तो सुख को जी लिया, दुःख आया तो उसको जी लिया। ऐसे दोनों में से गुजरते जाओ कि कहीं दामन उलझे नहीं। दुःख से डर कर भागो नहीं। जितना भागोगे उतना वह पीछे पड़ेगा। न भागना है न रुकना है। 'योगः कर्मसु कौशलम्'—जीने के लिये यह आवश्यक है।

ॐ

षष्ठ प्रवचन

दि. २३/२/८४ प्रात : १०.३० बजे.

भारतीय संस्कृति में एक पवित्र उद्घोष हजारों वर्षों से समाया है कि 'परमात्मा हैं, सर्वत्र हैं, सदा से है, सर्वरूप में व्याप्त हैं।' इतना जान लेने मात्र से जीवन में परिवर्तन नहीं आता। जाना हुआ जब जिया जाता है तब परिवर्तन के द्वार खुल जाते हैं। 'परमात्मा सर्वत्र हैं—' इस ज्ञान को जिया कैसे जाय? इस प्रश्न का समाधान किया सन्तों ने, भक्तों ने, आत्मानुभवियोंने कि समाज में, सभी सम्बन्धों में उस तथ्य का—सत्य का—अनुसन्धान रखते हुए जीते चले जाओ। यह जो भक्तियोग है यह भारतीय संस्कृति की अपनी विशेषता है। भावनाओं की आतिशबाजी भक्ति नहीं है। वाणी का विलास और कल्पना का शृङ्गार भक्ति नहीं है। यह है जीवन का पञ्चम पुरुषार्थ।

'चार ही पुरुषार्थांची सिद्धी। घेऊनि निघाला प्रेमपन्थीं।' —ज्ञानेश्वर कहते हैं कि धर्म—अर्थ—काम—मोक्ष—ये चार पुरुषार्थ जिसने सिद्ध कर लिये उन सिद्धियों को अञ्जलि में ले कर वह प्रेमपन्थ पर निकल पड़ता है।... उन्होंने ज्ञानोत्तर कर्म को भक्ति कहा है। इसीलिये श्रीमद्भगवद्गीता की टीका—रूप अपने ग्रन्थ को उन्होंने 'पञ्चम—पुरुषार्थ—प्रबोधिनी' कहा। इस प्रेम को जीना भक्तियोग का रहस्य है। श्रीमद् वल्लभाचार्य ने भी इस को पूर्ण पुरुषार्थ कहा है। सन्त ज्ञानेश्वर ने तो अद्वैत को भी मधुर बना कर ('मधुराद्वैत') ज्ञानेश्वरी में बहा दिया है।

उस भक्ति—रसायन के बिना 'मैं' की ग्रन्थि को घुला देने का सामर्थ्य ज्ञान में मुझे दिखाई नहीं देता। ज्ञानयोग, कर्मयोग, जप—तप, नादयोग, मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग, तन्त्रसाधना—अनेक पन्थ हैं, लेकिन वह 'मैं' की ग्रन्थि ज्यों की त्यों बनी रह जाती है, गलती नहीं, घुलती नहीं। इस 'मैं' का न घुलना आज वैश्विक समस्या बन कर बैठा है।

पश्चिम में बड़े भव्य प्रयोग हुए समाजरचना के। किन्तु यह जो 'अहं'—भाव 'अस्मद्—युष्मत्' प्रत्यय 'अहम्—इदम्' प्रत्यय है यह अपने आसपास स्वार्थ का, भय का, महेच्छाओं का एक वर्तुल खड़ा कर देता है। बुद्धिको कितने ही आदर्शों में क्यों न सजायें, पूंजीवाद से ले कर समाजवाद, साम्यवाद, सर्वोदय तक ले जाइये—वह प्रसाधित शृङ्गारित बुद्धि अपनी जगह हतबल सी, कुण्ठित सी बैठी रहती है। जब यह 'मैं' नामक ग्रन्थि अपनी सारी फौज ले कर टूट

पड़ता है तब शोषणमुक्त, शासनमुक्त, वर्गविहीन समाज का सपना देखने वाले क्रान्तिकारी सत्ता हाथ में आते ही प्रतिक्रान्ति के शिकार बन जाते हैं।

महर्षि मार्क्स, एंगल्स, ट्राट्स्की कोई सामान्य व्यक्ति नहीं थे, बड़े दिग्गज थे। उन्होंने इतिहास का नया अर्थघटन किया था कि गरीबी—अमीरी मनुष्य की बनाई हुई है, कोई नियति या परमात्मा की बनाई नहीं। ऐसे झकझोर देने वाले सन्देश और सपने थे उनके! उन क्रान्तियों के लिये जिन्होंने अपना खून बहाया, उनका ऋण हम पर है, लेकिन जो अहंग्रन्थि है, एक तरफ़ उसकी सुरक्षा की आकांक्षा है, दूसरी तरफ उसे 'द्वितीयाद् वै भयं भवति'—दूसरे से भय—सुरक्षा के विषय में, सत्ता और सम्पत्ति के विषय में, बना रहता है। जहाँ सुरक्षा की आकांक्षा, सुविधा का मोह और एक-दूसरे से भय—ये तीन आकर खड़े हो जाते हैं, वहाँ आदर्शों की कुछ नहीं चलती। बने-बनाये जीवन-मूल्य भी ढह जाते हैं और हावी हो जाती है यह ग्रन्थि।

१९६० में जब युगोस्लाविया जाना हुआ, वहाँ के सभी विश्वविद्यालयों के निमन्त्रण पर चार महीने रहना हुआ, तब वहाँ के उपराष्ट्रपति कॉमरेड कार्टिल से बात होती थी। मैंने उनसे पूछा कि क्या परिवर्तन हुआ यहाँ पर क्रान्ति से? उन्होंने कहा कि सम्पत्ति और स्वामित्व के साथ मनुष्य के चित्त का जो सम्बन्ध है, उसे नहीं बदल सके। यह पश्चिम की कहानी है। पूरब की कहानी भी इस से कोई अलग नहीं। कितने धर्मसम्प्रदाय, आत्मसाधना के पथ यहाँ आविष्कृत हुए। एक जङ्गल का जङ्गल खड़ा हुआ। अतिरथी-महारथी मुक्ति के पथिक यहाँ कम नहीं हैं। लेकिन अपनेआप को अलग-थलग करने पर, समाज से विमुख होने पर, जप-तप सब करने पर भी अहंग्रन्थि जैसा का तैसा बना रहा है।

संसार में जिन को आप भोगी कहते हैं, उनके अहंकार से त्यागियों का अहंकार बड़ा दर्पीला होता है, उसकी बदबू सहन करना मुश्किल होता है। पर क्या करें, स्वाधीनता पाने के बाद, सुविधा-अनुकूलतायें उत्पन्न होने के बाद, समाजवादी समाजरचना का आश्वासन होने के बावजूद भी वह स्वार्थ, भय और सुरक्षा का मोह और आकांक्षा जरा भी कम नहीं हुई। इधर सर्वोदय-दर्शन तक पहुँच गये, किन्तु मोह जैसा का तैसा बना हुआ है। कुछ तो कारण होगा!

मालूम पड़ता है कि विचार में संस्कारों के विलोपन की शक्ति नहीं है। आदर्श और ध्येय, उनकी भाषा का प्रचार—सञ्चार, बुद्धि को थोड़ा परिष्कृत कर देते हैं, बहिरङ्ग में थोड़ा परिवर्तन आ जाता है। मनोभौतिक या तन-मन

के (psycho-physical) व्यवहार का नमूना या ढांचा बदल जाता है, लेकिन अन्दर जो सत्त्व है (The core of being) वह वैसा ही रहता है। चेतना के केन्द्र में बैठ कर स्वामित्व का प्रयोग करने वाला अहङ्कार बना ही हुआ है।

पिछले २० वर्षों में विश्व के प्रायः ५० देशों में जो भ्रमण हुआ, वहाँ के भौतिकविज्ञानशास्त्री— जीवविज्ञानशास्त्री, मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक—सब में विचार करने की एक नई दिशा खुली हुई मेरे देखने में आई। वे कहते हैं कि राज्यशक्ति, शस्त्रशक्ति, धनशक्ति, विचारशक्ति सब आजमा कर देख लीं, लेकिन अन्तरङ्ग परिवर्तन नहीं होता है, तो चलो भारत के पास जो दर्शन है, भक्ति-योग है, अनेकों प्रकार के साधना—पथ हैं, इन को आजमा कर हम देखें। वहाँ के नौजवान, मध्यमवर्ग के लोग पश्चिम की सभ्यता से ऊब कर खोज में निकल पड़े हैं कि मनुष्य के मन और बुद्धि के परे यह अहं नाम का जो केन्द्र बैठा है—The Iconsciousness at the center of the whole being—उस से मुक्ति पाने का कोई रास्ता है या नहीं?...

यह एक वैश्विक समस्या बनी हुई है। उस की थोड़ी पार्श्वभूमि आप के सामने रखी कि पश्चिम या पूरब की संस्कृति में इस समस्या के समाधान का कोई बना—बनाया नुस्खा (readymade formula) नहीं मिलेगा। इस विषय में भक्तियोग या प्रेम योग क्या कहता है? उसके पास क्या इलाज है? 'मैं' का विघटन (Disintegration of "I"consciousness) नहीं, उसे कुचल डालना नहीं। उसकी जो स्वायत्त या परायत्त अनुभवराशि—ज्ञानराशि विरासत में मिली है उस से इनकार नहीं करना है। फिर करना क्या है इस के साथ? भक्तियोग के पास जो दो तीन बातें हैं, उन का उल्लेख करना है। [आज प्रभात में जो कहा गया, उसका अनुसन्धान ले कर हम आगे चलें।]

भक्तियोग ने पहली बात कही कि परमात्मा की जो सत्ता है, जो जगन्नाथ हैं, विश्वनाथ हैं वे स्वयं ही विश्वाकार बने हैं। जगत् अपने आधार से भिन्न नहीं है। जगदाधार ही जगदाकार बना है। विश्वनाथ ही विश्व बना—इस सत्य—तथ्य को हम पहचानें। इसे अन्वयभक्ति कह लीजिये। सन्त तुकाराम कहते हैं **'विषयचि अवघा झाला नारायण।'** 'आप को विषय दीखते होंगे, मुझे तो विषयों के पर्दे में छिपे नारायण ही दिखते हैं।' ज्ञानेश्वर महाराज ने कहा—

'जन्म घेणे लागे। वासने चा संगे। तेचि झाली आंगे। हरिरूप॥

जिस वासना के कारण जन्म लेना पड़ता है वही हरि के प्रेम में पड़ गई है

जो देहगत काम था, वह हरि को ही अपने आसपास अनन्त विषयों के रूप में पा कर उन के प्रेम में मस्त हो गया है।... ऐसा ही तो होता होगा नटवर नागर कन्हैया को देख कर! कहा है न मधुसूदन सरस्वती ने—

अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः
वेदान्तसिंहासनलब्धपीठाः।
शठेन केनापि वयं हठेन
दासीकृताः गोपवधूविटेन॥

'अद्वैत की गलियों के पथिक जिसकी उपासना करते हैं, जिसे वेदान्त सिंहासन पर आरूढ़ कराया गया हैं, ऐसे मुझ को यह क्या हुआ? गङ्गातट पर घूमते हुए कोई श्यामवर्ण शठ बालक हठपूर्वक मेरे उत्तरीय को एक झटका दे कर चला गया। अरे! वह उत्तरीय को नहीं मेरी सारी चेतना को झकझोर गया। गोपवधुओं के लम्पट उस शठ ने बरबस मुझे दास बना लिया—यानी मेरी सभी वृत्तियों को अपने में केन्द्रित कर लिया'...

२१ हजार ६ सौ बार जो श्वास लिया जाता है, प्रत्येक के साथ वृत्तियाँ उठती—मिटती रहती हैं। वे वृत्तियाँ उसके पीछे लग गई हैं। आजकी भाषा में इसका अर्थ क्या होगा? (What is the rational & scientific content of this mystery?) यही अर्थ होगा कि यदि यह समस्त विश्व विश्वाधार की काया ही है तो यहाँ हम जो कुछ भी कर्म करेंगे वह प्रतिक्षण उस विश्वाधार से जुड़ा हुआ ही होगा। कर्म अपने लिये न हो कर उसके लिये अर्पित होगा। आखिर प्रेम क्या करता है? अपने को लुटाने में ही तो प्रेम कृतार्थ होता है?

"ये भक्ति की बातें हैं ऊधो! बन्दगी तेरे बस की नहीं है।
यहाँ सर दे कर होते हैं सौदे! आशिकी इतनी सस्ती नहीं है।
यहाँ दम—दम पे होती है पूजा, सर झुकाने की फुर्सत नहीं है।
जिन की आँखों में श्याम समाये, वे रहते हैं दुनिया से न्यारे।
इक बार जो पी लेते हैं, उम्रभर फिर उतरती नहीं है।
ये मोहब्बत की बातें हैं ऊधो!...

—वृन्दावन में एक मुसलमान फकीर रहते हैं, उनके मुख से यह सुनने को मिला।

सारे जगत् में काया-वाचा-मनसा जो कुछ भी कर रहे हैं, वह "मुझे कुछ प्राप्त करना है, इसके लिये नहीं, मुझ को प्रभु ने जो दिया है, उसे लुटाने के लिये ही मैं जी रहा हूँ।" —देखिये! बिल्कुल विपरीत दिशा में जीवन

चला गया ! कहाँ तो स्वार्थ था, अपने लिये कमाने की वृत्ति (aquisitive tendency) थी—'धन—दौलत, सुविधा, सुरक्षा मुझे अपने लिये पैदा करनी है, नहीं तो मैं कैसे जियूँगा ?'—अब क्या हो गया ? वह प्रभु बैठे हैं सामने चहुँ ओर ! जिन्होंने विश्व को बनाया, जिन्होंने मेरा सर्जन किया, अनन्तरूपों में उन्होंने मुझे जो दिया, वह उन पर कैसे लुटा दूं ? न्योछावर करूँ ?

मित्रो ! जीवन एक यज्ञकर्म है—२४ घण्टे चलने वाला। इस में अपने भीतर समाई हुई सभी शक्तियों को लुटा देना है। लुटाने में ही कृतार्थता है। वह फ़िदा होना क्या जिसने फ़ना होना न सिखाया ? भक्तियोग कहता है—'लुट जाओ !' दुनिया में लूटने की बात है, यहाँ लुटाने को। वहाँ कमाने की भाषा है, यहाँ न्योछावर होने की। अहङ्कार दूसरी ही दिशा में चल दिया है। यदि ख्याल नहीं आता कि परमात्मा कैसा है, कहाँ है ? तो जो भी रूप प्रिय हो उसका नाम रटिये, रूप अपने आप खिंचकर चला आयेगा। आप कहेंगे कैसी बहकी बातें है ? लेकिन ऐसा नहीं है। नाम में होता है नाद ! नाद में जो Primordial energies हैं वे रूप को खींच लाती हैं।

नादात्मकः स्वयं विष्णुर्नादरूपो महेश्वरः।
नादात्मिका परा शक्तिः सर्वं नादमयं जगत् ॥

"In the beginning there was word, from the word the universe was created,"—कहा गया। हम उस से आगे एक कदम चलते हैं कि वह शब्द नहीं, स्वयंसिद्ध—स्वयम्भू नाद था, जिस में से विश्व की उत्पत्ति हुई। यह तो वैज्ञानिक तथ्य है कि नाद के साथ प्रकाश जुड़ा हुआ है। Sound & light are intraconvertible energies. नाद में अपार ऊर्जा, अनन्त शक्ति है। जो भी नाम लें, उन अक्षरों में, उस वर्णानुपूर्वी (अक्षरक्रम) में भरी हुई जो ऊर्जा है उससे आप अपने को लपेट लेते हैं। उस शक्ति का सम्बल पकड़ते हैं जब नाम जपते हैं। **'तज्जपस्तदर्थभावनम्'**—नाम जपते हुए उसके अर्थ का भावन करने की कला सिखाई गई है अतः यदि बुद्धि से जानने पर भी वह तत्त्व दिखता नहीं तो नाम जपें। नाम के नाद के भीतर निहित जो रूप है जो शक्ति है, वह प्रकट हो सकती है, होती आई है।

कितना बड़ा एक आश्वासन मिल गया कि जो जाना गया—सर्वव्यापी—सर्वात्मक रूप से, उससे सीधा सम्पर्क भी साधा जा सकता है। कितना सुन्दर नाम है हरि का—'सर्वम्' 'विश्वम्' जो भी कुछ है सृष्टि में, सब विष्णु है। व्याप्ति के कारण ही पृथ्वी को विष्णुपत्नी कहा। उस सर्वव्यापक से संपर्क कैसे स्थापित होगा ? कहीं भी स्पर्श करते समय स्मरण करें उसके आधार को। घास के तिनके

को हाथ लगाना है, तोड़ना है उपयोग में लेना है तो याद करें कि यह प्रभु का ऐश्वर्य है। उनकी करुणा है। अतः जितनी आवश्यकता है उतना ही उपयोग करेंगे—ऐसा भक्तियोगी कहता है। वनस्पति, पशु-पक्षी, पर्वत-नदी-सागर, स्थावर-जङ्गम सभी पशु के आकार हैं। यह भाव रहे तो जल-थल-नभ सभी के साथ सम्पर्क के अवसर पर वृत्ति रहती है सन्मान की—Reverence for life. तब वसुन्धरा उपभोग्या नहीं रहती। कुछ भी उपभोग्य नहीं रहता, सब 'सेव्य' हो जाता है।

कन्नौज में एक स्वामी गौरीशंकर महाराज रहते थे। [बचपन से ही मेरा अनेक संतों के साथ सम्बन्ध आया, क्योंकि मेरे मातामह का स्वामी विवेकानन्दजी से बहुत निकट का सम्बन्ध था। और जब कभी स्वामीजी का रायपुर आना होता तो नानाजी के ग्रंथागार में अवश्य आते। नानाजी के यहाँ संतों का आना होता ही रहता था। उनका जीवन समर्पित था प्रभु के प्रति। वहाँ ये गौरीशंकर महाराज भी आते थे।] वे आयुर्वेद के बड़े विशेषज्ञ अधिकारी थे। वे जब कभी औषध बनाने के लिये वनस्पति इकट्ठी करने जाते तब पहले उसे प्रणाम करते। मैं साथ रहती तब पूछती कि महाराज! इस पौधे, झाड़ी या वृक्ष को आपने प्रणाम क्यों किया? वे कहते 'उसमें ईश्वर की शक्ति भरी पड़ी है, उसे घर ले जाना है औषध बनाने के लिये, अतः प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि घर चलो प्रभु! कभी-कभी वनस्पति मुझे जवाब देती है कि आज नहीं, कल आऊँगी। तो दूसरे दिन पहुँच जाता हूं उसके पास।'···आज के लोग कहेंगे 'पागल है।' किन्तु वे पागल नहीं। वनस्पति भी बोलती हैं। सुनते हैं वे, जिनके श्रवण उतने संवेदनशील हैं। मनुष्य समझता है कि मैंने भाषा बनाली और बोलने पर मेरा एकाधिकार है। पर वनस्पति में भी तो वही आत्मा विराजमान है जो मनुष्य में है। वनस्पति क्यों न बोलेगी? मनुष्य ने अणु को तोड़ दिया, इलॅक्ट्रोन—प्रोट्रोन को जुदा किया, उस में से quantum of energy को प्रकट किया तो वह वैज्ञानिक हुआ और पत्थरों से, पेड़—पौधों से, सरिता—सागर से कोई बात करने लगा तो वह पागल हुआ?

भक्तियोग ऐसा कीमिया है, ऐसा विज्ञान है कि वह जीवन की हर अभिव्यक्ति को पवित्र मानता है। आज सारे जीवन में कहीं पवित्रता शेष नहीं रह गई। दृष्टि बदलती है तो दर्शन बदलता है। दर्शन बदले बिना वर्तन नहीं बदल सकता। भक्तियोग में दृष्टि बदलती है। हर वस्तु के लिये आदर आता है। कोई भी वस्तु जितनी आवश्यक हो उतना ही उस का उपयोग करेंगे, बाकी का परिग्रह करने की इच्छा ही नहीं होगी। क्योंकि जब आवश्यक है तब वह वस्तु

मिल जायेगी यह श्रद्धा रहेगी। इन्द्रियों के द्वारा भी विश्वाधार से सम्पर्क इस प्रकार स्थापित होता है, भक्तियोग में।

वेदान्त-सिद्धान्त का गलत अर्थ लेकर इस देश में एक मान्यता फैल गई कि शरीर अपवित्र है। उधर पश्चिम में भी 'Man is born in sin.' (मनुष्य की उत्पत्ति पाप में से है) कहते हैं। उन्हें बताना पड़ता है कि नहीं भाई! "आनन्दाद् ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्ति-अभिसंविशन्ति।...आनन्दे एव अन्ते सर्वे प्रविलीयन्ते। आनन्दं ब्रह्मेति व्यजान!" स्वामी विवेकानन्द ने १८९२ में शिकागो में कहा था—"Yee the children of Immortality! अमृतस्य पुत्राः!" शरीर अपवित्र नहीं। काम अपवित्र नहीं। वासुदेव ने कहा 'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ!' लेकिन प्राकृत काम को सुसंस्कृत प्रेम में परिवर्त्तित कर देना-उसके आधार पर कुटुम्बसंस्था का निर्माण करना, विकारों की व्यवस्था परिवार की मर्यादा में करते हुए व्यक्तिप्रेम से विश्वप्रेम तक पहुँच जाना—ऐसी व्यवस्था कर दी गई। जो शरीर को अपवित्र मानते हैं, त्याग-वैराग्य के नाम से कुचल डालते हैं, उनके ऐसे क्षत-विक्षत किये हुए शरीर प्रभु के अर्पित नहीं होते हैं। 'ज्यों की त्यों धरि दीनी चदरिया'-इसे सम्पन्न करने के लिये शरीर की मूलतः पवित्रता को ध्यान में रखते हुए जो अपवित्रता आई हो, उसका प्रक्षालन किया जाय।

पहले विश्वाकार प्रभु के साथ इन्द्रियों द्वारा सम्पर्क स्थापित हो, फिर सम्बन्ध बने। सम्बन्ध कैसे बनेगा? 'हे प्रभु! आपने मेरे सब ओर जो यह विश्वनिर्माण करके रखा है, उस में मैं उलझूँ नहीं। मैं चाहता हूँ इसे बनाने वाले आपको। आप मेरे हैं, मैं आप का हूँ।'...कभी देखिये तो ऐसा सम्बन्ध बना कर! जानने भर से काम नहीं बनता। जाने हुए को जीना होता है।

यही तो जिज्ञासु में से साधक होने का पथ है। 'आप मेरे हैं, मैं आप का हूँ'—यह भान रहे तो व्यवहार कितना बदल जायेगा? १६-१७ साल की लड़की शादी होकर दूसरे घर जाती है। अग्नि ब्राह्मण की साक्षी में उसका हाथ दूसरे के हाथ में देकर कहा जाता है कि 'यह तेरा पति है।' पति के घर पहुँचा कर कहते हैं 'यह तेरा परिवार है।' कल तक जिन को जानती नहीं थी, उन को कह दिया कि ये तेरे हैं, तू इन की है। और बस 'वधू' 'पत्नी' बन जाती है। उस का जीवन कैसा बदल जाता है? इन्हीं सम्बन्धों को जीने लगती है—'ये मेरे जेठ हैं, देवर हैं, ननद है, सास-ससुर हैं'। हर एक के साथ उसका अलग-अलग व्यवहार चालू हो जाता है। उसी कुल में जड़ें जमा लेती है।

पड़ता। जीवन एक यज्ञ है। इस में से ही अहिंसा का आचरण आयेगा। इस के सिवा नहीं आ सकता।

गाँधीजी को लोग कहते कि आप सत्य की बात करते हैं, देखते नहीं कि सत्य में से सफलता नहीं निकलती। तो क्यों सत्याचरण पर अड़े हुए हैं। तब बापू कहते–झख मारता हूँ। सत्य के बिना मैं जी नहीं सकता। कोई प्रेयसी कहे कि प्रेमी बिना मैं जी नहीं सकती, वैसे गाँधीजी कहते कि मैं सत्य के बिना जी नहीं सकता। जो भी कीमत चुकानी पड़े चुकायेंगे।... मेरे मित्रो! ऐसे प्रभु के बन जायें, अपने मिट जायें। 'मैं' का ग्रन्थि घुलने के लिये किसी के बन जाना होता है। हमने न कुछ पढ़ के सीखा है, न ही लिख कर के सीखा है। जो भी सीखा है. किसी के हो कर सीखा है।

यह 'किसी के होना' यानी परमात्मा से नित्य सम्बन्ध। भक्तियोग का रहस्य यह नहीं कि पाँच बार मन्दिर जायें, भोग लगायें, आरती करें। भले ही वह सब भी करें आनन्द से, लेकिन प्रत्येक कर्म का अनुबन्ध भगवान् से होना चाहिये। भक्तियोग सिखाता है 'उन के' हो जाना।

'जित बैठा दे तित ही बैठूँ, बेचे तौ बिक जाऊँ।
मेरी उन की प्रीत पुरानी, बार–बार यही गाऊँ।'

—मीरा ने और क्या किया भाई! सब से बड़ा पुरुषार्थ। Topsy-turvy हो गया सारा जीवन। मीरा जो राजकुल की कन्या और रानी थी, वह प्रभु की बन गई।

'मेरे तो गिरिधर गोपाल, दूसरो न कोई।
सन्तन ढिग बैठ–बैठ, लोकलाज खोई।...'

अभी भी एक बात शेष रह जाती है कि उपकरण दुर्बल है। तन–मन कमजोर हैं। कभी विकार जोर करते हैं, कभी स्वार्थ जोर करता है। तब क्या करें? प्रभु पास में हैं, वे मदद करेंगे —इसे भी भूल जायें और भय, स्वार्थ, विकार हावी हो जायें, तब क्या करें? तब कुछ नहीं भाई, रामकृष्ण परमहंस करते थे वही करो। रोम–रोम से पुकारो प्रभु को! कि मुझ से नहीं सँभला जाता। जीने की कोशिश की है, शक्ति कम पड़ती है, अब तुम्हीं संभालो प्रभु! सम्पर्क, सम्बन्ध, प्यार, और अन्त में है प्रपत्ति। 'मुझ से नहीं हो रहा है हे प्रभु! तुम्हीं करा लो!'... आधुनिक मनुष्य को यह प्रपत्ति की भाषा समझ में नहीं आती। इतने Masculine values इस संस्कृति में आ गये हैं। यहाँ assertion, aggression, competition (आग्रह, आक्रामकता, तुलना) और उस में से आने वाली हिंसा का महत्त्व है। जो पारिवारिक

मूल्य थे—प्यार के, त्याग के, समर्पित होने के वे छूट गये। समर्पित होना भी तो बीरों का काम है, कायरों का नहीं। जो मनुष्य प्रभु के प्रति समर्पित हुआ है, वह अपनी समझ के अनुसार काम करने पर भी जब असफलता आये, विफलता आये, तब व्याकुल नहीं होगा। सफलता—विफलता की भाषा प्रपत्ति में घुल जाती है, घोली जा सकती है। 'प्रभु! हम तेरे हो कर जी रहे हैं, अब तुझे हमारे साथ जो करना है वह कर!'

'राजी हैं हम उसी में जिस में तेरी रजा है।
यहाँ यूँ भी वाह—वाह है और वूँ भी वाह—वाह है।'

—स्वामी रामतीर्थ, 'अनलहक अनलहक' कहने वाले राम बादशाह यही कहा करते कि जैसी तेरी मर्जी वैसा कर!

ये सब बातें इसलिये कहीं कि मनुष्य चाहे चाँद पर उतरे, मंगल पर पहुँच जाय, प्रकृति की शक्तियों पर कब्जा कर ले, पर जीवन अनन्त है। मनुष्य जहाँ तक पहुँचा है वह मनुष्य की समग्रता का एक अत्यन्त क्षुद्र हिस्सा है। केवल भूगोल ही नहीं, सारा खगोल तक। जो सूर्य—चन्द्र—तारा—मण्डल हम देखते हैं ऐसे २४ सौरमण्डलों का वेदों में उल्लेख है। अब भौतिक विज्ञान वाले भी कहने लगे हैं कि सौरमण्डल अनेक हैं। एक चाँद और मङ्गल पर पहुँचने से मनुष्य मान बैठा कि मैं ने क्या नहीं किया? अरे! व्यक्त और अव्यक्त के पीछे, इन के भीतर जो अनन्त सत्ता पड़ी हैं, उसे मनुष्य अपनी बुद्धि से कभी समूची ग्रहण नहीं कर सकेगा। बुद्धि, मन और इन्द्रियों की मर्यादाओं को पहचानना—यह प्रपत्ति का आशय है।

The centent of surrender is burning awareness of the limitations of human life.

आज मनुष्य अपने आप से यह कबूल करने को तैयार नहीं है कि इस मन से, इस बुद्धि से, इन इन्द्रियगत प्रयत्नों से वह परमात्मा की समग्र सत्ता को आश्लेष में नहीं ले सकेगा। उसकी प्रतीति—भर आयेगी। अपनी मर्यादाओं का भान अन्त में आता हैं। आरम्भ में लगता है कि हम क्या नहीं कर लेंगे? जवानी है, बुद्धि है, शक्ति हैं, ये ध्येय हैं, आदर्श हैं— लक्ष्मण कहते थे वैसे मनुष्य सोचता है— 'कन्दुक इव ब्रह्माण्ड उठाऊँ' तथा 'काचे घट जिमि डारौं फोरी।' इतना उसको गुमान होता है। जैसे—जैसे मनुष्य परिपक्व होता है, परमात्मा की अनन्त सत्ता से परिचय होने लगता है, तब समझता है कि मनुष्य तो धरती पर एक अत्यन्त छोटी सी चीज है। यह जो अपनी मर्यादाओं का भान होता है उस में प्रार्थना का जन्म होता है। हृदय से पुकार उठती है कि

ऐसे ही साधक के सद्भाग्य से जब गुरु का मिलन हुआ तो वह गुरुकुल का बनता है। उसकी जड़ें गुरुकुल में जाती हैं। दैहिक भाव से नहीं, आत्मिक भाव से। वह जो सम्बन्ध होता है आत्मानुभवी और जिज्ञासु का, उसे गुरु-शिष्य सम्बन्ध कहा गया है। सम्बन्ध स्थापित करने का आशय समझ लें कि जब आपने कहा 'मैं प्रभु का और प्रभु मेरे'—तब प्रभु के संसार में प्रभु के बन कर जीना शुरू होगा। यदि मेरे प्रभु सच्चिदानन्द हैं तो मैं सत् को छोड़ कर असत् का आश्रय नहीं करूँगा, चाहे जो कीमत चुकानी पड़े। कौन सा सत् ?—याज्ञवल्क्य का ? हरिश्चन्द्र का ? शुकदेव का ? शङ्कराचार्य का ? —नहीं, जो सत् मेरी समझ में आता है, उसका। आप कहेंगे 'हमारी समझ कितनी ?' जितनी भी हो। ग्रन्थों में पढ़े बिना, विश्वविद्यालयों में गये बिना, सहजात रूप से जो समझने की शक्ति हमारे भीतर पड़ी है, वही परमात्मा की विभूति है। वह समझ जितनी भी हो, उस पर चलना मनुष्य शुरू कर दे, तो बहुत है।

आज हृदय फटने लगता है जब लोगों को समझ से बेवफ़ा होते देखती हूँ। कोई आकर कहे कि ये लाख-दो लाख रुपये ले लो और मेरे लिये अमुक गलत काम कर दो (सही काम के लिये तो कोई पैसा देता नहीं), बुद्धि कह रही है कि यह काम गलत है, फिर भी हम करते हैं, उस लाख-दो लाख के मोह में चले जाते हैं। बुद्धि से बेवफ़ा हुए बिना आत्मवञ्चना-परवञ्चना सम्भव नहीं है।

जो सत्य हमारी समझ में आता है, उससे प्रारम्भ करें, फिर जीते-जीते उसे परखने-निरखने की शक्ति बढ़ती चली जाती है। Understanding implemented in relationship enriches the brain. दूसरा उस को बढ़ाने का कोई रास्ता नहीं है। अपनी समझ से हम बेवफ़ा न हों, और बिना समझे कोई काम न करें—यदि चित्स्वरूप हम हैं। अपने सच्चिदानन्द स्वरूप से सम्बन्ध स्थापित करने का यह दूसरा रास्ता हुआ कि जो-जो समझ में आया, उसे जिम्मेदारीपूर्वक करते चले जायें। जो भी परिणाम आयेगा उस में हमारा हित होगा। प्रिय भले न हो, हित जरूर होगा।

हमारे बचपन में, हम बच्चों में से कोई झूठ बोल जाता तो हमारे माता-पिता उपवास करते। हम पूछते-'माँ-बापू ! आप भोजन क्यों नहीं करते ?' (हम आश्रमों में तो रहे नहीं, जो कुछ सीखा घर पर ही सीखा) वे कहते 'हमारे रहते तुम लोगों को झूठ बोलने की इच्छा हो गई, तो जरूर हम में कोई अशुद्धि है, इसलिए उपवास किया है। ...सत्य से सम्बन्ध जब उपस्थित हो जाता है तब अशुद्धि हटाने के लिये मनुष्य को पलभर भी विचार नहीं करना

मेरी शक्ति कम पड़ती है प्रभु ! अब आप आओ ! प्रभु के अवतरण के लिये, उन से मिलने के लिये अपने में एक ऐसा स्थान हृदय और बुद्धि में बना रखना—यह भक्तियोग कर देता है।

अहंकेन्द्र (The Icenter of the being) जब तक हट नहीं जाता (does not go into abeyance, non action) शान्ति से जा कर अकर्म की अवस्था में नहीं बैठ जाता, तब तक मनुष्य की सारी सम्भावनायें पूरी तरह से खिलती नहीं। कृतार्थता नहीं होती है। भक्तिमार्ग में वह सम्भावना है, जो ज्ञानमार्ग और ध्यानमार्ग में पूरी तरह से प्रस्फुटित नहीं है। आखिर में तो ज्ञान जा कर भक्ति में परिणत हो और भक्ति में से ज्ञान जागृत हो—यह नियम है ही।

पुरुषार्थ हमारा स्वधर्म हैं, वह करना ही है, बुद्धि को परिष्कृत बना कर, भावनाओं को परिमार्जित बना कर पुरुषार्थ करना है। वह करने पर भी जीवन में एक क्षेत्र ऐसा रह जाता है जहाँ पुरुषार्थ और प्रयत्न असङ्गत है। जहाँ प्रयत्न-रहित समर्पण ही एकमात्र महत्त्वपूर्ण कर्म रह जाता है। प्रार्थना द्वारा, भक्ति द्वारा, वैसी शक्ति हम में आयेगी तो प्रयत्न-पुरुषार्थ के बाद हम निश्चिन्त हो जायेंगे कि प्रभु हम से जितना हो सकता था वह हम ने किया, आगे आप की जैसी मर्जी हो, वह करो!

विनोबाजी को कभी मैं पूछती कि—'बाबा ! आप के बाद इस देश का क्या होगा ?' -वे सहजता से जवाब देते-'अरे ! तेरे बाबा को जन्म दे कर भारत-माता बाँझ नहीं हो गई है। मैं अपना काम थोड़े ही कर रहा हूँ, प्रभु का काम कर रहा हूँ। उस को जरूरत होगी तो सैंकड़ों विनोबा पैदा कर लेगा।' ...गांधीजी भी सुबह-शाम प्रार्थना करते और रात में जितना समय मिल पाता उस में ऐसे निश्चिन्त सो जाते कि लोगों को आश्चर्य होता। स्वाधीनता-संग्राम के घमासान भीषण प्रसङ्गों में भी यह क्रम चलता। बापू को मालूम था कि पुरुषार्थ की परिपूर्ति प्रणति-शरणागति में है। दिन भर का पुरुषार्थ और सुबह-साँझ की प्रपत्ति—ये दोनों मिल कर जीवन पूर्ण होता है।

'अहं' नामक ग्रन्थि को हटाने का दूसरा कोई रास्ता नजर नहीं आता। प्रेम में वह घुल जाय, या तो ज्ञान के अग्नि में भस्मसात् हो जाय। किन्तु, वैसे भस्मसात् होने में जीवन का पुष्प खिलता नहीं। हाँ, ज्ञान से उसे भस्मसात् करके उस भस्म की विभूति बना कर अपने अङ्गों पर धारण करने वाले गोरक्ष-

नाथ, शङ्कराचार्य जैसे महावीर भी निकले हैं। वह बड़ा उग्र मार्ग है। [हम बहन की, मा की जाति हैं] हमें प्रेम का मार्ग पसन्द है, जिसमें अहङ्कार घुल जाता है। जैसे नमक—पानी में घुल जाय। फिर उसका विनियोग होता है समाज परिवर्तन की प्रक्रिया में। **गांधीजी की अहिंसा का जन्म प्रेम से हुआ था।** इसलिये उन की अहिंसा तीक्ष्णातितीक्ष्ण होते हुए भी नवनीत—मृदु थी।

समाजपरिवर्तन की इच्छा रखने वालों के हृदय में से यदि अहं की ग्रन्थि का विलोपन हो जाय, या वह घुल जाय, तो जब कभी क्रान्ति या समाज-परिवर्तन घटित होगा तब हम सत्ता—सम्पत्ति के मोह के शिकार हो कर प्रति-क्रान्तिवादी नहीं बनेंगे। यह नहीं होगा तो समाजपरिवर्तन की प्रक्रिया के बाद भी हम वहीं पहुँचेंगे जहाँ इन ३५—३७ वर्षों से सड़ रहे हैं। —सम्पत्ति का मोह, सत्ता का लालच, क्षुद्र स्वार्थ, आपसी झगड़े, व्यक्तिपूजा, व्यक्तिप्रामाण्य-वाद, सत्ता का केन्द्रीकरण—इत्यादि सभी कुछ चलता रहेगा। वे चाहे राज्यसत्ता पर बैठे लोग हों, या स्वैच्छिक समाजसेवा करने वाले संस्थासंगठन हों, स्थिति सबकी एक सी है।... प्रेमयोग में अहङ्कार घुल जाय और परिवर्तन करते—करते, समाज के ढाँचे को बदलते—बदलते अपना भी अन्तरङ्ग परिवर्तन हम करते चलें। दोनों एक साथ ही चलेंगे। एक पहले कर लें, दूसरा बाद में करेंगे—यह हो नहीं सकता।

बड़ा सौभाग्य है कि श्रद्धेय मिश्रजी यहाँ आ कर बैठते हैं, जिन का गांधीजी के साथ इतना निकट का सम्बन्ध रहा, जयप्रकाशजी के तो साथी रहे, विनोबाजी के उत्तरजीवन में उन के साथ अन्तरङ्ग सम्बन्ध रहा। देश पर अपनी जवानी लुटा चुके हैं। समाजवाद और साम्यवाद का गम्भीर अध्ययन रहा। उसके बाद ३०—३२ वर्षों से अध्यात्मपथ की ऐसी उत्कट तपस्या और गम्भीर साधना चली। दोनों तरफ़ के उत्तम संयोग जिन के जीवन में हैं, ऐसे एक छिपे महापुरुष की उपस्थिति से मुझे बड़ी प्रेरणा मिलती है। अपना अन्तर उँडेल—उँडेल कर बोलती हूँ कि कहीं कोई बिन्दु छूट जाता हो, कोई ग़लती हो तो 'बाबूजी' सुधार देंगे।... मैंने क्रान्तियों में काम नहीं किया। प्रत्यक्ष क्षेत्र में समाज-सेवा मैं ने की नहीं है। पाँच वर्ष की आयु में प्रभु ने हृदय चुरा लिया, आँखें चुरा लीं। संसार क्या होता है—हमें मालूम नहीं है। विश्वविद्यालय से निकले कि विनोबाजी के अध्यात्मनिष्ठ अद्भुत क्रान्तिकारी दर्शन पर आधारित भूदान यज्ञ में शामिल हो गये। जनता में ही जनार्दन देखा हम ने। मन्दिरों में तो कभी जाते नहीं थे, न सामाजिक—धार्मिक—समारम्भों में, क्योंकि हमारे पिताजी

जातिबहिष्कृत थे। हमारे जन्म से भी पहले एकबार भंगी के यहाँ सत्यनारायण कथा का प्रसाद लेने से ब्राह्मणों ने उन्हें जातिबहिष्कृत कर दिया था। अतः सामाजिक प्रसङ्गों में किसी के घर आना-जाना हमें मालूम नहीं था।... समाजसेवा-जगत् में विनोबाजी के साथ काम किया, लेकिन सर्वोदयसमाज या सर्वसेवासंघ की सदस्या नहीं बनी। विनोबाजी से कहा था कि 'आप प्रभु का काम कर रहे हैं, इस में शामिल होने की इच्छा है। भारत की नंग-भूख नहीं मिटती है, तब तक समाधि ले कर क्या बैठेंगे?...' तब हँस कर विनोबाजी ने कहा था 'आओ विमलानन्द! मिल कर काम करते रहेंगे।' ...कहने का तात्पर्य यह कि जिन का दोनों विषयों का सजीवन अध्ययन है ऐसे एक अनुभवी व्यक्ति की उपस्थिति में ये प्रवचन हो रहे हैं। — 'स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्'—ये प्रवचन ही स्वाध्याय है मेरा। इसी दृष्टि से-यहाँ बात करती हूँ। यह बहुत अनुग्रह है प्रभु का।...श्रद्धेय मिश्रजी ने एक जगह लिखा है कि अब तो सारे विश्व पर (जो भी मेरे सामने है) प्रेम लुटाने के लिये ही शायद शेष रह गया हूँ। ऐसे प्रेम से भीगी उपस्थिति में यह शिबिर हो रहा है, इसे बहुत बड़ा सौभाग्य समझती हूँ।

ॐ

प्रश्नोत्तरी

दि. २३/२/८४ अपराह्न : ४ बजे

प्रश्न १. आज की परिस्थिति में अध्यात्म द्वारा राजनीतिक परिवर्तन संभव है क्या ? यदि सम्भव हो तो उसके लिये क्या प्रक्रिया होनी चाहिये ?

प्रश्न २. अहिंसा को क्रान्ति-प्रक्रिया बनाने में गांधीजी की क्या दृष्टि रही होगी ? अहिंसा का स्वरूप-मर्म बताने की कृपा करें ।

अहिंसा को जिस रूप में महात्मा गांधी ने संसार के सामने रखा, उसके पीछे अनेक दृष्टियाँ हो सकती हैं । लेकिन पहला प्रभाव प्रतीत होता है जैन आगमों का, जहाँ 'अहिंसा परमो धर्मः' इस प्रकार अहिंसा की साधना के अनेक विधिविधान बतलाये गये हैं । उसमें किसी भी जीव-जन्तु को मारा न जाय, हत्या न हो किसी की, यह उसका स्थूल रूप है । वाणी से किसी को दुःख पहुँचाने वाले शब्दों का उच्चारण न हो–मन से किसी का बुरा न सोचा जाय, किसी से ईर्ष्या-द्वेष न किया जाय–यह उसका सूक्ष्म स्वरूप है । इस प्रकार से जैन दर्शन ने अहिंसा को एक व्यवहार के दर्शन रूप में प्रस्तुत किया । लेकिन स्थूल का तो शायद आचरण हुआ कि 'सचित्' नहीं 'अचित्' पानी पिया जाय, उबाल कर –छान कर पीया जाय, 'मुंह-पत्ती' लगाई जाय–इत्यादि । लेकिन संपूर्ण जीवन के साथ उसका अनुबन्ध नहीं जोड़ा गया । अतः जीवजन्तुओं को तो मारना नहीं, लेकिन मनुष्यों का आर्थिक शोषण करें ऐसे व्यवसायों को करना–इससे जीवन में एक अन्तर्विरोध पैदा हुआ ।

गाँधीजी के जीवन में जैन-आगमों की अहिंसा का जिस प्रकार प्रभाव था, उस प्रकार वेदान्त और भक्तियोग के–'परमात्मा सर्वव्यापी है, सर्व रूप में वही विराजमान है'–इस सत्य का भी बहुत प्रभाव था । उन्होंने अहिंसा का एक विज्ञान बनाया । सत्य की आराधना के लिये अहिंसा को साधना के रूप में उपस्थित कर दिया । मैं अपने-आपको अधिकारी व्यक्ति नहीं मानती अहिंसा के विषय में कुछ कहने को । क्योंकि मुझसे यदि कोई पूछेगा कि किसी माँ-बहन की इज्जत लूटी जा रही है, उस समय हम क्या करें । मैं कहूँगी–जैसे भी बन पड़े उस अत्याचारी को हटाओ, वहाँ मैं हिंसा-अहिंसा का सवाल नहीं उठाऊंगी । वह स्त्री यदि आत्मरक्षा के लिये हथियार चलाती है और अत्याचारी को मार डालती है तो उसे मैं हिंसा नहीं कह सकूंगी । इसलिये अहिंसा का क्या आशय है और क्या नहीं है इसका निर्णय करने की अधिकारिणी मै नहीं हूँ ।

फिर भी अपने जीवन में हिंसा को जितना कम किया जा सकता है, उतना कम किया जाय। यह नहीं कि यदि मच्छर-खटमल-बिच्छू-सर्प घर में घुसे हैं तो उनको नहीं मारेंगे—जैसा कि गांधीजी के आश्रम में नहीं मारा जाता था। मुझसे कोई पूछेगा तो कहूँगी कि उसे मारने में दोष नहीं है। लेकिन शाकाहार उपलब्ध होते हुए यदि कोई मांसाहार करेगा तो मैं कहूँगी कि भाई अपने आहार के लिये हिंसा करने की अब आवश्यकता नहीं है क्योंकि कृषिशास्त्र इतना विकसित हो गया है। अतः शाकाहारी बनो और आहार के निमित्त से जो पशु-पक्षियों-मछली आदि प्राणियों की हिंसा की जाती है उससे बचो। ऐसे एक तारतम्य किया जा सकता है स्थूल हिंसा में।

वाणी में अवश्य अहिंसा को अधिकाधिक दाखिल किया जा सकता है—'अनुद्वेगकरं वाक्यम्, सत्यं प्रियहितं च यत्'-सात्त्विक वाङ्मय तप करें कि किसी को कुछ कहना हो वह ऐसे ढंग से कहें कि सत्य कहा जाय किन्तु किसी को दुःख न पहुंचे, किसी का अपमान-उपेक्षा-तिरस्कार न हो, कर्कशता और बेरुखाई से न कहा जाय। जितना हो रुचिकर ढंग से कहें। ऐसे वाणी की अहिंसा को बहुत दूर तक मनुष्य ले जा सकता है और यदि वह परमात्मा में श्रद्धा रखने वाला है, तो चित्त से किसी का बुरा न सोचे यहाँ तक जाना प्रत्येक व्यक्ति के लिये सम्भव है। आपके अहिंसा वाले प्रश्न का जवाब कुछ हुआ।

गांधीजी ने जो अहिंसा की बात कही है उसका सन्दर्भ कुछ और भी है। वह यह कि समाजपरिवर्तन के जो प्रेरक तत्त्व हैं, प्रक्रियायें है, (Motivations of socio-economic revolutions and strategy & methodology of revolution)—सामाजिक आर्थिक क्रांति के प्रेरक तत्त्व और उन की व्यूहरचना व प्रक्रिया-पद्धति—इन दोनों में गांधीजी परिवर्तन लाना चाहते थे। वे यह जरूरी नहीं मानते थे कि समाजरचना व अर्थव्यवस्था ऐसी हो कि जिससे समाज और मनुष्य कुछ वर्गों में बँट जाय-एक वर्ग उत्पादकों का एक उपभोक्ताओं का, और एक इन दोनों के बीच व्यवस्थापकों का। इस प्रकार से वर्गों में समाज को बाँटना अनिवार्य है, ऐसा वे नहीं मानते थे। इसलिये उनका जो मानवनिष्ठ अर्थतन्त्र है, जिसमें खादी-ग्रामोद्योग आदि आते हैं, उनमें खादी बनाना और तेलघानी आदि चलाना—इतना स्थूल स्वरूप ही नहीं है, उसके पीछे एक बहुत क्रान्तिकारी अर्थशास्त्र खड़ा है। उत्पादक-उपभोक्ता—व्यवस्थापक ऐसे खण्डों में मनुष्य को बाँटते हुए ऐसे समाज का दर्शन उनके सामने था कि वर्गों में बाँटना, उनमें हितविरोध और वर्गसंघर्ष खड़ा करना, वर्ग चेतना जगाना फिर उससे मुक्ति का प्रयत्न करना—यह जरूरी नहीं। शोषणमुक्त समाज की रचना के लिये कृषि-आधारित, कृषि-केन्द्रित उद्योगीकरण के द्वारा जो क्रान्ति लाना गांधीजी चाहते थे, उसमें यह अहिंसा का रहस्य समाया है।

गांधीजी ने राजनीति में अहिंसा को दाखिल किया। अंग्रेजी सल्तनत को हटाना है अवश्य, लेकिन द्वेष से नहीं, हिंसात्मक युद्ध करके नहीं।···उस पर लोग चल नहीं सके। अहिंसामूलक शान्तिपूर्ण आंदोलनों तक मुश्किल से लोग पहुँच पाये। लेकिन अहिंसा को सामाजिक मूल्य बनाना, राजनैतिक मूल्य बनाना आर्थिक क्षेत्र में अहिंसा को दाखिल करना–यह जैन आगमों की अहिंसा, साधुओं की अहिंसा और गांधीजी की अहिंसा में मूलभूत अन्तर है।

दूसरा प्रश्न पूछा गया है कि–आध्यात्मिक दृष्टि से सत्ता की राजनीति में कोई परिवर्तन लाया जा सकता है या नहीं? इस पर दो पहलुओं से विचार करेंगे।

पहले दिन से देख रहे हैं कि जीवन एक अखण्ड एकता है। एक अविभाज्य एकरस समग्र सत्ता है।–'An indivisible nonfragmentable homogeneous whole.'—इसे टुकड़ों में नहीं बाँटा जा सकता। आध्यात्मिक दृष्टि का पहला अर्थ यह हुआ कि जीवन को खण्डों में नहीं बाँटा जा सकता। यदि समाज बना कर जीने में मनुष्य एक दूसरे के साथ झूठ न बोले, चोरी न करे, एक-दूसरे की हिंसा न करे – यह आवश्यक है तो राजनीति में भी उसे दाखिल करना आवश्यक ही है। आप कहें कि मन्दिरों में, घरों में भी प्रेम का वातावरण हो लेकिन राजनीति में हिंसा, झूठ, फरेब, गुण्डागर्दी, छीनाझपटी द्वेष क्रोध का वातावरण हो सकता है—तो आप जीवन को खण्डों में बांट रहे हैं। यानी आप कह रहे हैं कि मंदिर में जाकर कहो कि 'प्रभु आप घट-घट–वासी हैं, अन्तर्यामी हैं,' घर में पत्नी-बच्चों से प्यार की बातें करो, और पड़ोसी से ईर्ष्या-स्पर्धा रखो, दूकान में जाकर धन्धे में धोखा-मिलावट चलाओ और राजनीति में तो छल,-कपट, द्वेष, हिंसा तक, चाहे जो चलाओ, सब वाजिब है।—ऐसे ही तो छिन्नभिन्न मनोभ्रान्त व्यक्तित्व (split personality, schizophranic personality) समाज में बन गये हैं। परस्पर विरोधी मूल्यों को अपने एक ही हाड़मांस के खोल में भरे हुए लोग जीना चाहते हैं। अलग-अलग आचारसंहितायें बनाते हैं, राजनीति के नाम पर एक, अर्थनीति के नाम पर दूसरी और परिवार के लिये तीसरी है···। गांधीजी ने कहा इस सब ढकोसले को हटाओ। जब तक जीवन को खण्डों में बाँट कर परस्पर मेल न खाने वाले विभाजन करके परस्पर विरोधी जीवनमूल्य रखोगे, इन्हें प्रमाणभूत मानोगे उनके लिये सामाजिक समर्थन रखोगे—तब तक समाज में शान्ति आने की नहीं, शोषणमुक्ति संभव नहीं।

आध्यात्मिक दृष्टि से राजनीति में परिवर्तन लाने के लिये, पहले कोई आध्यात्मिक दृष्टि से जीने वाले लोग तो हों। गांधीजी के गुरू गोखलेजी ने राजनीति के आध्यात्मिकीकरण की बात कही। गांधीजी ने राजनीति-अर्थनीति-समाजनीति के मानवीयकरण की बात की। उन सब बातों से हम अनजान तो नहीं हैं। सब जानते हैं। लेकिन आजादी के बाद वह अध्यात्म या मानवीयता सत्ता की राजनीति में रही नहीं, पक्षों की राजनीति में नहीं, और इनसे बाहर रहकर गांधीजी का कार्य आगे बढ़ाने वाली संस्थाओं-संगठनों में भी नहीं।

परिवर्तन लायेगा कौन? परिवर्तन के मूल्यों को अपने जीवन में जीने वाली कोई जमात तो चाहिये। जिनके मनमें सत्ता की दुर्दान्त लालसा है, सत्ता पाने या हथियाने के लिये जो चाहे जैसा उपाय अपनाने को तैयार हैं, उसमें किसी को अपमानित करना पड़े या किसी का गला काटना पड़े, परवाह नहीं, वे लोग क्या परिवर्तन करेंगे? जिस जात-पांत को हटाने में गांधीजी ने प्राणों की बाजी लगाई, १९३२ में यरवडा-पैक्ट होने से पहले लोगों को कितना समझाया। वही जात-पांत उकसाई जाती है अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये। बिहार की तो सारी राजनीति आज जात-पांत के आधार पर खड़ी है।...तो, गांधीजी, अस्पृश्यता-निवारण की बात करें और हम जात-पांत उकसायें। वे सत्य-अहिंसा की बात करें और हम सत्ता-सम्पत्ति हथियाने के लिये गुण्डागर्दी का सहारा लें। जिस पक्ष के पास जितने साधन हों उतनी हद तक वह भ्रष्टाचार-अनाचार दुराचार करें—तो राजनीति में अध्यात्म लाने की बात कहाँ की जाय?

हम तो प्रभु को बिके हुए व्यक्ति हैं। हमारा कभी कोई सम्बन्ध राजनीति से न रहा, न रहेगा, लेकिन वस्तुस्थिति जो दिखती है वह कहते हैं। आप प्रश्न पूछते हैं कि आध्यात्मिक दृष्टि से राजनीति में कोई परिवर्तन आयेगा? तो कहना पड़ेगा कि अवश्य आयेगा। लेकिन व्यक्तिशः और सामुदायिक रीति से उन मूल्यों पर चलनेवाले लोग चाहियें। इस देश में जब तक भुखमरी और नंग है, तब तक हम अपने बेटे-भाई-भतीजे के लिये लखपति बनने के सपने नहीं देखे। हाँ, अन्न-वस्त्र-आच्छादन की मनुष्योचित व्यवस्था हो। सामान्य जीवन हम जी सकें। यदि मेरे मन में एक इच्छा है कि मेरे कुटुंब-वाले करोड़पति हों, दूसरी ओर यह भी इच्छा है कि इस देश में से गरीबी, भूख-नङ्ग मिटे—तो ये दोनों बातें एक साथ बन नहीं सकतीं। पूंजीवादी आकांक्षायें हैं, सामन्तवादी सभी आदतें हैं और हम लोकतन्त्र चलाना चाहते हैं—यह हो नहीं सकता। (Capitalist mind, feudalist ambitions, & we want to operate democracy ?) ऐसे में अध्यात्म की तो बात छोड़ दीजिये, मनुष्यता भी टिक नहीं सकती।

इसलिये मैं कहती हूँ कि मनुष्य आज विच्छिन्न व्यक्तित्व का शिकार है। अध्यात्म की दृष्टि से खड़ा होने वाला कोई चाहिये। 'Manmaking... character making mission' होना चाहिये। जो लोग तैयार हों कि असफलता आये तो उसका वरण करेंगे, पर मानवीय मूल्य नहीं छोड़ेंगे—उनकी जरूरत है आज। आज के सन्दर्भ में सत्ता और पक्षों की राजनीति में परिवर्तन लाना है अतः हम उन मूल्यों को अपने जीवन में, अपनी जमात में, अपने पक्ष में दाखिल करेंगे, किसी भी कीमत पर छोड़ेंगे नहीं।'—ऐसा कहने वाला कोई वर्ग तो हो!

आज भारतवर्ष में नागरिक लापता है। भीड़ है मनुष्यदेह-धारियों की, लेकिन मानव लापता है। मानवता के मूल्य रखने को कोई तैयार नहीं। आज तो अल्पसंख्यता की भी पृथक् चेतना भड़काई जा रही है। जात-पाँत, संप्रदाय -प्रतिसंप्रदायवाद भड़क रहे हैं। पंजाब सुलगा हुआ है, हरियाणा सुलग रहा है, असम बेचैन है, त्रिपुरा-मणिपुर बेहाल हैं। [मैं यहाँ अध्यात्म-शिबिर में बैठी हूँ लेकिन मेरे अध्यात्म में जीवन के सभी अङ्ग आ जाते हैं। राष्ट्रीय प्रश्नों की उपेक्षा नहीं है।]

गांधीजी ने एक जमात १९१५ से यहाँ पैदा की, जिसने १९४७ तक काम किया। उसमें भी गांधीजी को धोखा देनेवाले, झूठ बोलनेवाले निकले ही थे। जब बापू के ध्यान में वह आता तब वे सावधान हो जाते और आन्दोलन वापस खींच लेते, अपनी ही भूल मान लेते। और पुनः सत्य-अहिंसा की संभाल का प्रयत्न चालू रखते।...भाई! सच्ची बात यह है कि आज अध्यात्म किसी को नहीं चाहिये। सत्य, अहिंसा, स्नेह, सहयोग नहीं चाहिये। तात्कालिक परिणाम चाहिये। उस में भी सत्ता, सम्पत्ति, सुरक्षा, सुविधा की Terms में मिलने वाली सफलता के सब पुजारी हो गये हैं। इसलिये अध्यात्म की दृष्टि से राजनीति का परिवर्तन दूर की बात है, पहले इन्सान चाहिये, मनुष्य चाहिये, तभी काम हो सकता है।

इस विषय का अन्तरङ्ग पहलू कहा गया, अब इस का दूसरा (बहिरङ्ग) पहलू देखें। सत्ता की राजनीति में अध्यात्म को दाखिल करना, याने विकेन्द्रीकरण की ओर ले जाना। [सवाल बड़े गम्भीर पूछे गये हैं अतः ज़वाब गहराई में उतर कर देना होगा] हुआ ऐसा कि योरोप में २०० वर्ष पहले जो औद्योगिक क्रांति आई, वहाँ विज्ञान और यन्त्रविज्ञान ने औद्योगिक क्रांति लाने का एक ढाँचा खड़ा कर दिया। मनुष्य का परिश्रम-कष्ट बचे, समय बचे, ऐसे यन्त्र बनाना औद्योगिक-विज्ञान का लक्ष्य बन गया। इन यन्त्रों के द्वारा उत्पादन की

नई पद्धति बनी जिसने परिश्रम की आवश्यकता घटाई, किन्तु कृषिप्रधान संस्कृति के साथ वह मेल नहीं खाती थी। क्योंकि उसमें उद्योगों का, उत्पादन का, वितरणशक्ति का-सब प्रकार का केन्द्रीकरण आवश्यक था। और जहाँ उत्पादन एवं वितरण की शक्तियाँ, आर्थिक शक्ति, केन्द्रित होती है, वहाँ उनके संरक्षण के लिये मिलिटरी — पैरामिलिटरी शक्तियाँ खड़ी करना अनिवार्य हो जाता है। जहाँ-जहाँ केन्द्रीकरण होगा वहाँ सेना और उसकी पर्याय सशस्त्रशक्ति से मुक्ति नहीं पाई जा सकती। फिर उनकी व्यवस्था के लिये राज्यशक्ति को केन्द्रित करना पड़ता है। इस प्रकार अर्थशक्ति, दण्डशक्ति और राज्यशक्ति या सत्ता-तीनों का केन्द्रीकरण एक साथ चलता है। ऐसा त्रिपुटी का केन्द्रीकरण आज सारी दुनिया में है, अमेरिका हो या इंग्लेन्ड, या रूस अथवा चीन, सभी जगह उक्त त्रिपुटी केन्द्रित है। इस केन्द्रीकरण के आधार पर जब समाज खड़ा होता है तब कानूनन ढाँचा लोकतन्त्र का है या तानाशाही का इस से वस्तुस्थिति में कोई बहुत फर्क नहीं पड़ता। ढाँचों से वस्तुस्थिति नहीं बदलती है।

केन्द्रित उत्पादन वाले फ़िर अपने बाजार बाहर ढूँढ़ते हैं। जैसे भारत को मण्डी बना दिया है माल बेचने की, वैसे एशिया-अफ़्रीका के सभी देशों को वे अपना बाजार बना लेंगे। फिर राजनीतिक साम्राज्य (Imperialism) की ज़रूरत क्या? आर्थिक साम्राज्यवाद इंग्लेन्ड–अमेरिका का चले तो रूस का क्यों नहीं चले? क्योंकि जहाँ केन्द्रीकृत उत्पादन होगा वहाँ उत्पादित माल का बाजार बाहर के देशों को बनाना ही पड़ेगा। एक जाल बन जाता है बाजार बनाने का; तस्करी, कालाबाजारी, करचोरी, समान्तर पर्याय अर्थशक्ति (Parellal economy) का। यह सिलसिला सभी देशों में है। जितना वैधानिक धन (authentic economy) नहीं उतना यह गैरकानूनी (काला) धन चलता है।

यह सब कहने का तात्पर्य यही है कि ऐसे में अध्यात्म नहीं चल सकता। एक तो इस केन्द्रीकरण के कारण, साथ ही विज्ञान-यन्त्रविज्ञान का महत्त्व बहुत बढ़ जाने के कारण मनुष्य अपने आप को हीन समझने लगता है। परिश्रम की गरिमा उस के चित्त से हट गई, पशुबल और जीवित साथीपन का गौरव घट गया। जड यन्त्रों की बहुतायत ही प्रगति की निशानी बन गई है। अपने पर से मनुष्य की श्रद्धा हट गई, खेती पर से हट गई, जमीन से प्रेम हट गया। यह जो मनुष्य में हीनभाव, लघुताग्रन्थि आ जाती है, यह पहला सांस्कृतिक परिणाम है।

आशय यह नहीं कि विज्ञान-यत्रविज्ञान का उपयोग नहीं करना है, मैं कहती हूँ कि इन के उपयोग की पद्धति बदलनी होगी, जिस ओर गांधीजी ने

सङ्केत किया था—यन्त्रविज्ञान-विज्ञान मनुष्यबल और पशुबल के सहायक व पूरक बल के रूप में रहें । उनके मारक न बनें, उनका स्थान न छीन लें । ..आज यही हुआ है । इस देश में पिछले २५-३० वर्षों से गाँव के रोजगार छिनते चले गये । किसने पूछा था चर्मकारों और कुम्हारों से ? किसने ख्याल किया उनके बेरोजगार होने का जब बाटा आदि के जूतों के और अल्युमिनियम तथा सिरेमिक्स के कारखाने बने तब ? जब कपड़े की मिलें खड़ी होती हैं तब कौन देखता है कि कत्तिनों-बुनकरों-रंगाई करने वालों का कितना नुक्सान हुआ ? चावल की मिलें, आटे की मिलें, तेल-मिलें खड़ी होती हैं तब गांव की ढेंकी, चक्की, घानी आदि का क्या होता है, किसी ने देखा क्या उस ओर ?

विज्ञान-यन्त्रविज्ञान को अवश्य गाँव में ले जायें । सौर-ऊर्जा, जल-ऊर्जा, पवन-ऊर्जा आदि का वहाँ विनियोग करके ग्रामीणों के परिश्रम में सहायक बनिये तो अच्छा ही है । नये प्रकार की ढेंकी, घानी, चर्म-उद्योग के साधन उपकरण, बर्तन बनाने की नई पद्धतियाँ वहाँ ले जा सकते हैं । पर औद्योगिक प्रगति के नाम पर हुआ तो उलटा ही है । गांव से चर्मकार गया, कुम्हार गया, बढ़ई और लोहार गये, तेली गया, कत्तिने गईं, रंगरेज और छीपी गये । खेती में भी मनुष्य व पशु को हटाने वाले ट्रेक्टर्स, कम्पाउन्ड हार्वेस्टर्स् आ गये । इस अन्धी दौड़ में छोटी जोतें खत्म हो जाने से बैल बेकार हुए, किसान भी बेदम हो कर शहर की मिलों के मज़दूर बनने को मजबूर हो गये । कैसी दुर्दशा हो गई उनकी ? हम भूदान के जमाने में घूमते थे और अब देखते है कि तब के और आज के बिहार में जमीन-आसमान का फ़र्क हो गया है । उत्पादन का केन्द्रीकरण मनुष्यों को अपनी जमीन से उखड़ने को विवश बनाता है । इस पराधीनता का कोई अन्त नहीं है मित्रो ! पश्चिम के समृद्ध देशों में जो सांस्कृतिक दरिद्रीकरण हुआ है, उस ह्रास का अध्ययन करनेवाले जानते हैं कि जड़ यन्त्रों के साथ जीते-जीते आज वहाँ के मनुष्यों की क्या हालत हो गई है, और क्यों वहाँ के हजारों लोग दौड़ते हैं इधर-उधर, शान्ति के—जीवन के अमन-चैन के रास्ते खोजते हुए ।...

अपने प्रस्तुत विषय पर आयें, तो यदि सत्ता की राजनीति में अध्यात्म को दाखिल करना है, तो अब तक प्रगति का जो ढाँचा बनाया गया, उस से अलग ढाँचा बनाना होगा । उद्योग तथा सत्ता का विकेन्द्रीकरण करते हुए विज्ञान-यन्त्रविज्ञान-उच्च तकनीकी (High technology) को भी साथ लेना होगा, उन्हें मानवाभिमुख-जीवनाभिमुख बनाना होगा । मुझे नेपाल बुलाया गया था-World congress of culture में । वहाँ मैं ने यह बात कही थी

सब विकासशील देशों के लिये, और श्रीलङ्का में जब श्रीमती भण्डारनायके ने बुलाया तब वहाँ की संसद के सामने भी मैंने यही बात रखी थी कि एशिया-अफ्रीका के लिये परिस्थिति का तकाजा है कि औद्योगीकरण का नया तरीका निकालें विज्ञान-यन्त्रविज्ञान के विनियोग का नया रास्ता खोजें। इन की मदद लेकर विकेन्द्रीकरण की ओर जाते हैं तो जीवन में अध्यात्म दाखिल होगा, जिस का पहला कदम है व्यक्ति की स्वाधीनता। व्यक्ति के अभिक्रम का सन्मान, एक दूसरे के साथ जीने की तमन्ना, साथ काम करने की तमन्ना मनुष्य में जाग उठे। आज हमें कोई जरूरत नहीं महसूस होती है एक-दूसरे के साथ रहने और काम करने की। क्योंकि लगता है कि यन्त्रों से सब काम कर लेंगे। किन्तु इस का दुष्परिणाम सामने आ चुका है।

औद्योगिक और आर्थिक ढांचे के विकेन्द्रीकरण के बाद का कदम होगा राज्यसत्ता का विकेन्द्रीकरण। जैसा कि गांधीजी ने कहा था–एक-एक गाँव एक प्रजासत्ताकीय इकाई बनेगा। सत्ता की राजनीति में अध्यात्म को दाखिल करने का दूसरा कदम है ग्रामस्वराज्य। अपना अन्न-जल, अपने वस्त्र, अपने आरोग्य और शिक्षण की व्यवस्था वहाँ होगी। उनके अपने ग्रामसुरक्षादल बनेंगे। आज हर-एक गाँव में पुलिस तो है नहीं। जहाँ हैं वहाँ पुलिस सत्ता की राजनीति का साधन–उपकरण बनी हुई है, और ग्राम को सुरक्षा देने के बदले शोषण ही करती है। कानून और सुरक्षा के नाम पर चलती ठगी–गुण्डागर्दी तथा भयङ्कर शोषण से गाँव को मुक्त करने के लिये ग्राम-सुरक्षादल के अलावा लोक अदालत की स्थापना करनी होगी, जिस की पहली इकाई होगी न्यायपंचायत।

मेरे कामों में जैसे ये ध्यान–शिबिर चलते हैं वैसे ग्रामस्वराज्य-शोध–केंद्र भी चलते हैं। एक है बीकानेर जिले में गङ्गानगर की तरफ़ छतरगढ़ में। वहाँ आसपास के पचास गांवों को लेकर काम चल रहा है। गुजरात में एक अहमदाबाद जिले में, दूसरा राजकोट जिले में हैं। अहमदाबाद जिले में गूंदी-लोक-अदालत की स्थापना के समय सुप्रीम कोर्ट के जज देसाई साहब आये थे। उन्हें दिखाया गया कि गाँव की न्याय-पंचायत में गाँव के पंच लोग किस प्रकार मामला (केस) दाखिल करते हैं, किस प्रकार उस पर फैसला देते हैं। दीवानी और फ़ौजदारी दोनों प्रकार के मामले उनके सामने रखे गये थे।...उसमें हमें जरूरत नहीं है पीनल कोड पढ़कर इंग्लेन्ड में अपराध–अभियोगों का कैसे फैसला होता है–उसके आधार पर यहाँ के आज के मामलों का चुकादा करने की! अंग्रेजों के आने से पहले भी तो झगड़े होते रहे होंगे, उनके फैसले भी होते होंगे। उनके लिये गाँव में अपनी जो सूझ–बूझ है उसका उपयोग क्यों न किया

जाय ?...देसाई साहब के सामने भी एक मामला लेकर न्यायपंचायत बैठी। आरोपी-अभियोगी-अभियुक्त, गवाह, वादी-प्रतिवादी सब आये, अपनी-अपनी बात कहीं। दलीलें-प्रतिदलीलें चलीं। उस मामले की पहली सब फाइलें देखी गयीं। फिर पंचों ने फ़ैसला दिया। उस से पहले भी जितने मामले इस न्याय-पंचायत के सामने आये थे, और फ़ैसले दिये गये थे, उनके कागज़ात देसाई साहब पढ़ गये। बाद में उन्होंने कहा कि मैं सुप्रीम कोर्ट में बैठ कर भी इनसे भिन्न कोई फैसला नहीं देता जो गाँववालों ने दिया है।

ऐसे ग्रामस्वराज्य में गाँव की अपनी न्याय-पंचायत और १०-१५ गाँवों की मिला कर लोक-अदालत होगी तब कानून-संबंधी पराधीनता से गाँवों की मुक्ति होगी। पुलिस से मुक्ति होगी यदि गाँव की अपनी शान्तिसेना और ग्राम-सुरक्षा-दल बनें। यही तो स्वराज्य है ? **राजनीति में यदि अध्यात्म को दाखिल करना है तो व्यक्ति आत्मानुशासित हो और गाँव की जनता ग्रामानुशासित बने।** हाँ, धनमुद्रा (currency), यातायात के साधन, परिवहन, उच्च स्तर का शिक्षण, विदेशनीति, राष्ट्र-सुरक्षा-नीति, खनिज पदार्थों का निकालना और तत्सम्बन्धी बड़े उद्योग-इत्यादि बड़े विषयों के लिये केन्द्रीय सरकार भी रहेगी। लेकिन दैनिक जीवन आत्मानुशासित तथा ग्रामानुशासित होगा, तब अध्यात्म जिया जा सकेगा।

आपने यदि माना हो कि—अध्यात्म की दृष्टि से राजनीति में परिवर्तन की बात करने पर कहा जायेगा कि दिल्ली में जो सत्ता की राजनीति है, उस में कैसे परिवर्तन आयेगा—तो मेरा कहना है कि मैं दिल्ली को राजनैतिक सत्ता का केन्द्र मानती नहीं हूँ। मेरी दृष्टि से सत्ता के केन्द्र हैं मेरे देश के सात लाख गाँव। लोकतन्त्र के सच्चे स्वामियों को मैं वहाँ देखती हूँ। वहां परिवर्तन आयेगा, तभी पटना और दिल्ली में वह पहुँचने वाला है। दिल्ली और पटने में लाया गया परिवर्तन गाँवों तक पहुँचेगा-इसका प्रयोग ३६ वर्षों तक करके देखा लोगों ने, पर हुआ नहीं।

अध्यात्म को राजनीति में दाखिल करना है तो विकेन्द्रीकरण के मनोविज्ञान को समझना होगा। उसमें गांधीजी के जितने विचार आज संगत हों उन्हें लीजिये, जो असङ्गत हो गये हों उनकी जगह नये दाखिल किये जायें, नई कार्यपद्धति अपनाई जाय। वर्तमान के संदर्भ में उस पर अमल करने की कोशिश करें, तब आयेगी स्वाधीनता। अध्यात्म को राजनीति में दाखिल करने के लिये क्रान्तिकारी मनुष्य चाहिये। अपने भीतर से सम्पत्ति और सत्ता की लालसा को हटा कर '**आत्मनि एव आत्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञः**' चाहिये।

यानी अपनेआप में, अपने होनेपन में जो सन्तुष्ट है और यथाशक्ति–यथामति परिश्रम करने से जो मिलता है उसमें सन्तुष्ट रहने को जो राजी है — ऐसा मनुष्य चाहिये।

आज तो मुफ्त की कमाई का बोलबाला हैं। परिश्रम के पैसे का महत्त्व नहीं है। बेटा या पति यदि ७००–८०० रु० कमाता है तो माँ या पत्नी उलाहना देती हैं कि "इतना ही कमाते हो? पड़ोसी तो तीन-चार हजार कमाता है। वह कहाँ से लाता है? तुम्हारे ही दफ्तर में तो काम करता है? अगर कहा जाय कि 'मैं ईमानदारी से जो वेतन मिलता है वही लाता हूँ, दूसरे अन्याय से पैसा बटोरते हैं'—तो घर के लोग कहने लगते हैं ऐसी साधूगीरी करनी थी तो शादी क्यों की? घर क्यों बसाया?"... बिना परिश्रम की कमाई, मुफ्त का खाना, हाथ पसार कर लेना या छीन-झपट कर लेना–ये सब अनाध्यात्मिक मूल्य हैं। इन मूल्यों को अपने जीवन से हटा कर उस के लिए त्याग बलिदान को तैयार रहने वाली नौजवानों की जमात बन जाय तो इस देश की राजनीति में परिवर्तन करना कोई बहुत बड़ी बात नहीं है। जिन के जीवन परिवर्तन–लक्षी हों ऐसी जमातों द्वारा यह सम्भव है। उनके कार्य की नजर दिल्ली–कलकत्ता–बम्बई पर नहीं, देश के सात लाख गाँवों पर होगी। आज आजाद कहलाते देश में भी जो गाँव गुलाम हैं, जो शहरों के उपनिवेश बन गये हैं–उन्हें इससे मुक्त स्वाधीन बनाना यही राजनीति में अध्यात्म को दाखिल करना होगा।

प्रश्न—परिव्रज्या का अर्थ क्या है? मन से मुक्ति का मार्ग क्या होगा–कृपया समझा कर कहें।

उत्तर—निर्हेतुक भ्रमण (लोकहित के लिये) परिव्रज्या है। जिस प्रवास या परिभ्रमण में कुछ भी उपार्जन नहीं करना है। अपने लिये व्यक्तिगत रूप से तो नहीं ही, लेकिन कोई सम्प्रदाय संगठन संस्था बनाने के लिये या किसी सिद्धान्त–विशेष के प्रचार के लिये भी नहीं। किसी ने बुलाया तो गये, नहीं तो अपने स्थान में स्थिर रहे। परिव्रज्या का पारम्परिक अर्थ मैं नहीं जानती हूँ, जो स्वयं समझी हूँ वही कहती हूँ कि जिसमें अपने लिये किसी भी प्रकार से, किसी भी स्तर पर, कुछ कमाना नहीं है–ऐसा भ्रमण परिव्रज्या है। उस के मूल में है सहज विराग। इसका बड़ा सुन्दर अर्थ सन्त ज्ञानेश्वर ने किया है–प्रभु कह रहे हैं कि 'मेरे बारे में जो अनुराग है, वही विषयों के प्रति विराग बनता है।' ऐसी 'विरजा' या विराग जिन के चित्त में जाग उठे, वे फिर यह नहीं मानते कि 'मैं अमुक कुल का, अमुक जाति का, अमुक स्थान का हूँ।' जिनकी देहपरायणता

छूट गई है, सभी धर्म वाले, सब जात-पांत वाले समान हो गये, कहीं ऊँचनीच भाव नहीं रह गया, आत्मलक्षी दृष्टि और आत्मलक्षी वृत्ति बन गयी है–ऐसे व्यक्ति जब वैराग्यपूर्वक, यानी प्रभु में विशेष अनुराग रखते हुए भ्रमण करते हैं तो उसे परिव्रज्या कहा जाता है ।

पहले तो परिव्रज्या पैदल चलते हुए ही होती थी, इसलिये वाहनों के उपयोग का सवाल नहीं था । विनोबाजी ने भूदानयज्ञ में जो १४ वर्ष तक 'चरैवेति चरैवेति' का विनियोग किया वह एक प्रकार की परिव्रज्या थी । स्वामी विवेकानन्दजी ने उन के गुरू की समाधि के बाद १८८६ से १८९२ तक जो इस देश में भ्रमण किया उसे भी परिव्रज्या कहा जा सकता है । और आज जे. कृष्णमूर्ति जो सारे संसार में घूम रहे हैं–कम से कम ७५ वर्ष से सतत घूमना चल रहा, है वह भी एक प्रकार से परिव्रज्या ही कही जायेगी ।

प्रश्न—क्या व्यवहार की सत्ता परमार्थ से अलग मानी जायेगी ? क्या दो सत्तायें अलग हैं कि यह पारमार्थिक है, यह व्यावहारिक है, यह धर्म-निरपेक्ष है, और यह आध्यात्मिक हैं–इत्यादि ?

उत्तर—प्रारम्भ में ही तो यह कहा गया कि जीवन को खण्डों में बाँटा नहीं जा सकता । सत्ता में विभिन्नता कैसी ? जानती हूँ कि परम्परागत अध्यात्म में 'व्यावहारिक' और 'पारमार्थिक'–ऐसे सत्ता के दो भेद करके रखे हैं । लेकिन वैज्ञानिक अध्यात्म और वैज्ञानिक धर्म की बात कही रामकृष्णदेव ने । उनके बाद विनोबा आये । इनके युग में अध्यात्म का अर्थ बदल गया । अध्यात्म की धारणा में ही क्रान्ति आई । पहले नियम थे कि संन्यासी अग्नि को स्पर्श न करें, पैसे को न स्पर्श करें, रसोई न बनायें आदि । विवेकानन्दजी ने रामकृष्णमिशन बनाया तो दवाखाने खोलकर सेवा में संन्यासियों को लगाया । बाढ़ या अकाल के राहत-कार्य में संन्यासियों को भेजते, विद्यालयों में भेजते । आश्रम में संन्यासी खुद भोजन बनायें और अतिथि-अभ्यागतों को भोजन करायें, ऐसी व्यवस्था रखी । —यह जो परिवर्तन वे लाये–इसका कारण था कि उन्होंने दो सत्ताओं को अलग नहीं बाँटा ।

आप पूछना चाहते हैं कि व्यवहार में सत्याचरण कैसे करें ? समझ रही हूँ आप का प्रश्न । क्योंकि समाज में सर्वत्र भ्रष्टाचार है, अनाचार-दुराचार है, पग-पग पर झूठ बोलना पड़ता है । नहीं तो तरक्की (Promotion) नहीं मिलेगी, रिश्वत नहीं देंगे, खुशामद नहीं करेंगे तो पता नहीं क्या-क्या आफ़त आ खड़ी होगी, यह समाज की परिस्थिति है, इसलिये आप पूछ रहे हैं ।

मान लेती हूँ कि कोई सच्चा जिज्ञासु सवाल पूछ रहा है जो साधक बनना चाहता है। उसको मैं कहूँगी कि साधना का प्रारम्भ अपने-आप से करें। खुद से झूठ बोलना छोड़ दें। अपने आप से हमेशा सच ही बोलें। आप कहेंगे कि अपने खुद से कैसे झूठ बोला जाता है? तो देखिये। आप ने सङ्कल्प किया कुछ करने का। पत्नी के साथ, बच्चों के साथ, मित्रों के साथ बैठे हैं या अकेले भी बैठे हैं, तो कह दिया या सोच लिया कि आज या कल, यह काम मैं करूँगा। वाणी से या चित्त से सङ्कल्प किया, आश्वासन भी दिया, लेकिन फिर वह काम किया नहीं। यह झूठ बोलना हो गया सब के साथ। आत्मवञ्चना परवञ्चना तो हुई ही, अपने आप के प्रति झूठ बोलना हो गया। दस बार कहें कि यह करूँगा, वह करूँगी—और फिर करें नहीं तो असत्य होते-होते सङ्कल्प शक्ति भी क्षीण होती है। इसलिये 'रघुकुलरीति सदा चलि आई। प्राण जाँय पर वचनु न जाई, याद रखें। अपने साथ तो प्रारम्भ करें कि वाणी से जो-जो वचन निकलेगा उसको पूरा करके छोड़ेंगे!

रामकृष्णदेव की एक घटना याद आती है। [पीछे मैं कह चुकी हूँ कि हमारे] मातामह का स्वामी विवेकानन्दजी से बहुत निकट-सम्बन्ध था। ठाकुर रामकृष्णदेव के अनेक शिष्य ननिहाल में आते रहते थे, स्वामी प्रभवानन्द, निखिलानन्द, विरजानन्द आदि। उन में से अनेकों को हमारे माता-पिता ने देखा। मैंने भी कुछ को देखा। स्वामी विरजानन्दजी ने यह कहानी कही थी। शायद मेरी ६ वर्ष की आयु में उनसे सुनी होगी। उनका हुक्का और गुड़गुड़ी भर देने का काम मेरा रहता, और वे कहानियाँ सुनाते। उन्होंने एकबार कहा था] एक दिन रामकृष्णदेव ने नरेन (विवेकानन्द) से कहा कि मुझे बड़ाबाजार जाना है, बलरामबाबू के यहाँ जाऊँगा। उस समय वे जहाँ जा रहे थे, वहाँ से लौटते हुए बहुत रात हो गई। ११ बज गये थे। सब ने समझा कि अब तो बलरामबाबू के घर ये नहीं जायेंगे। लेकिन घोड़ागाड़ी में बैठते ही उन्होंने कहा कि उस रास्ते से चलो। कहा गया कि ठाकुर महाशय! रात के ११ बजे हैं, वहाँ तो सब लोग सो गये होंगे। पर उन्होंने कहा 'गाड़ी उधर से ही लो!' वही किया गया। घर का बड़ा दरवाजा बन्द था। ठाकुर उतरे नीचे और दरवाजे पर जा कर तीन बार कहा—'मैं आया था। मैं आया था। मैं आया था।'.....आप हँसेंगे। लेकिन उन्होंने कहा कि मैं ने खुद कहा था कि आज वहाँ जाऊँगा। इसलिये अपने को दिया हुआ वचन पूरा करना था।... इस प्रकार व्यवहार में वाणी के सत्य का कम से कम अपने साथ तो अमल शुरू करें हम!

यह यदि हो गया है तो परिवार में सत्याचरण शुरू करें। कभी झूठे आश्वासन न दें। यदि दिये हों और पूरे न हो सकें तो माफ़ी माँगते हुए कहदें कि मैंने यह आश्वासन दिया था, लेकिन पूरा नहीं हो सका। काया–वाचा–मनसा सत्याचरण पत्नी-पति-माता-पिता-भाई-बहन-बच्चों के साथ शुरू कर दीजिये। उसमें अहङ्कार को ठेस पहुंचेगी। कितनी बार आपकी कमजोरियाँ सब के सामने खुल जायेंगी। लेकिन भूल हुई तो ध्यान में आते ही माफ़ी मांगलें। झूठ बोले हों तो माफ़ी माँगलें, भूल कबूल करलें। इतना ही आरम्भ कीजिये! तब देखेंगे आप कि सत्याचरण का हमारा साहस नहीं है। क्योंकि गले तक असत्य में डूबे हुए हैं। कहना एक, करना दूसरा, मन में तीसरा। हेतु, वाणी और आचरण-इन का कहीं परस्पर मेल नहीं है। विसङ्गति ही नहीं, परस्पर विरोध हो गया है। There is a contradiction in the very roots of our being. यह राजनीति की नहीं घर की बात कर रही हूँ। घर में कहाँ सरकारी भ्रष्टाचार, खुशामद या रिश्वतखोरी बीच में आती है कि सच न बोला जाय, सच न किया जाय? करके तो देखिये?...

अपने निजी जीवन से प्रारम्भ करो, परिवार तक ले जाओ। फिर व्यवसाय में उसे दाखिल करने का साहस करो। यदि आप सत्याचरण की दिशा में एक कदम उठाते हैं श्रद्धा–सहित, तो यकीन मानिये कि बाह्य परिस्थितियाँ आप के सत्याचरण के लिये उत्तरोत्तर अनुकूल बनती चली जायेंगी। प्रभु की तरफ़ जिसने एक कदम बढ़ाया, उसकी तरफ़ प्रभु दस कदम बढ़ाते दौड़ते हुए चले आते हैं। ज्ञानेश्वरी में १२वें अध्याय में ज्ञानेश्वर प्रभु-मुख की बात कहते हैं–

"अर्जुना! आम्हां भक्तांचे व्यसन। भक्त आमुचे निजध्यान।
ती कान्ता मी वल्लभ जाण। धनुर्धरा तू॥"

'हे अर्जुन मुझे भक्तों का व्यसन है। मैं उनके आगे-पीछे घूमता रहता हूँ कि उनको कहीं भी कैसी भी जरूरत पड़े तो तुरन्त काम आऊँ, मुझे बुलाना न पड़े। भक्तों का मैं अभिध्यान करता रहता हूँ। हे धनुर्धर! भक्त मेरी कांता हैं, उनका वल्लभ हूँ।...सत्य की दिशा में कदम उठाने की साधना ध्रुव ने की, प्रहलाद ने की, हरिश्चन्द्र ने की। कभी किसी की लाज जाने नहीं दी प्रभु ने। ...इस का मतलब यह नहीं है कि हमारी सत्य की श्रद्धा को, निष्ठा को, प्रभु जाँचेंगे नहीं, कोई परीक्षायें नहीं होंगी। पर विद्यालय में जाने वाले की ही परीक्षा होती है। वैसे सत्याचरण करने वाले की कसौटी भी प्रभु करेंगे। लेकिन कसौटी पर कसे जाते समय भी, हमें जो विपत्ति या अप्रिय प्रतीत होता हैं उसे भी प्रभु का वरदान समझ कर बाँहें पसार कर भक्त ले लेते हैं।

मैं यह कहना चाहती हूँ कि जो व्यवहार में सत्य को जीना चाहते हैं, वे अपने से शुरू करें । परिवार में उसे दाखिल करें । व्यवसाय में भी दाखिल करने का प्रयत्न करने लगें । फिर देखें कि बाकी परिस्थिति अनुकूल बनती है या नहीं ?...आप पहले ही बात करते हैं सरकार की । ८३% टैक्स लेती है सरकार, उस से आप बचना चाहते हैं । तो उतना-सा हिस्सा छोड़कर बाकी पूरे जीवन में तो सत्य पालिये ! सरकार के साथ झूठ बोलना पड़ता है तो उस कारण से पत्नी-बच्चों-माता-पिता या मित्रों से तो झूठ बोलना जरूरी नहीं हो जाता ! लेकिन सरकार का नाम लेकर हम अपने दैनिक जीवन में भी सत्य को आने नहीं देते । जो साधक बनना चाहता है वह इस घोर आत्मवञ्चना से बचे । 'जब से जगे रे भाई ! तब से सबेरा !' आज से ही यदि शुरू कर दें तो सत्यनारायण मदद किये बिना नहीं रहेंगे । मोहनदास गांधी की मदद कर सके, विनोबाजी की मदद कर सके, और क्षीण-जर्जर काया लेकर दधीचि जय प्रकाश खडे हुए तो उनकी भी मदद करने में परमात्मा चूके नहीं । वे साधक की मदद क्यों नहीं करेंगे ?

इसलिये सत्याचरण जीवन में शक्य है । व्यवहार और परमार्थ, मन्दिर और घर, व्यवसाय और राजनीति–ऐसे भेद करने की कोई जरूरत नहीं । जहाँ पाँव रखें वहाँ प्रभु का मन्दिर ही है । घर–बाहर–मन्दिर ऐसे विभाग मैं जानती नहीं हूँ । आप कहेंगे कि क्या गृहस्थाश्रम में यह सम्भव है ?.. मैंने गृहस्थाश्रम देखा है केवल अपने माता-पिता का । पिताजी वकील थे । पिताजी के मुख से सुनी बातें बता रही हूँ । "जिस दिन शादी हुई उसी रात को तुम लोगों की माँ ने मुझ से एक वचन माँगा कि–'आप फौजदारी मामले (Criminal cases) नहीं लेंगे, क्योंकि उनमें आप झूठ बोलकर खून करने वाले को, डाका डालने वाले को मानलो बचा लेंगे और वह शुल्क-धन घर में आयेगा, तो कल जब अपने बच्चे होंगे तब उन्हें मैं किस मुँह से सिखाऊँगी कि सच बोलो ! मेरे घर में यदि असत्य का, अधर्म का, पाप का पैसा आता हो तो बच्चों को कैसे सिखाऊँगी कि तुम पाप-अधर्म मत करो । झूठ मत बोलो ।'—मैंने तुरन्त आश्वासन दिया था कि हम इस में नहीं पड़ेंगे, जहाँ झूठ बोलना पड़े अन्याय होता हो–ऐसा काम कभी नहीं करेंगे ।"

गृहस्थाश्रम ऐसे भी तो चल सकता है ! उसमें फिर नौकर नहीं होते हैं । ऐश-आराम की सामग्रियाँ और व्यर्थ गँवाने का समय नहीं होता है । स्मरण है यही दृश्य घर का, जो मैंने मेट्रिक होने तक देखा है कि प्रतिदिन सुबह उठकर हमारे पिताजी और माँ पहले चक्की लेकर बैठते, आधे घण्टे तक वे चक्की

चलाते । रोज के उपयोग का आटा ताजा पीस लेते । कपड़े धोना, बर्तन मलना, घर की सफ़ाई करना, सीधा-सादा सात्त्विक भोजन करना, अपने-अपने स्कूल जाना, छोटी सी बगीची को खुद ही सँभालना । हमें मालूम नहीं था क्या होता है बैंक-बैलेन्स ! क्या होते हैं नोकर ! क्या होते हैं गहने ! या और कुछ ? मेरी माँ को कोई पूछता तो वह कहती कि चारित्र्यपूर्वक जीने में जो सन्तोष है, उसके आगे गहने आदि की मुझे इच्छा ही नहीं होती ।...गृहस्थआश्रम के उनके अनेक उदाहरण मैं बता सकती हूँ लेकिन विस्तार में नहीं उतरना है । उस गृहस्थाश्रम में चार बेटे दो बेटियों को लेकर वे जी सके ।...जेल में जब गये माँ-पिताजी दोनों, तब मेरी आयु तीन-चार वर्ष की रही होगी । जाते समय मेरे भाइयों को जतलाते गये कि किसी से कुछ उधार मत लेना । कर्ज मत लेना । मुझे याद है तब १५ दिन तक बिना नमक का खाना हम ने खाया था ।

अपने सन्तानों में सच्चा जीवन पैदा हो, इसके लिये यदि माता-पिता तपस्या करने लगें तो सन्तान वैसी बनेनी । इसलिये गृहस्थाश्रम और व्यवहार के नाम से हम आत्मवंचना न करें । हम आराम-तलब, सुविधा-सुरक्षा-परायण न बनें । जिसे मानबीय जीवन मूल्यों को जीवित रखना है, वह फिर सुविधा–असुविधा की परवाह नहीं करता है । हाँ ! गरीबी रहेगी, अमीरी नहीं आयेगी । लेकिन भूखों नहीं मरना पड़ेगा उस व्यक्ति को ।...आज हमें मूल्यों की अपेक्षा सुविधा की ज्यादा फिक्र होती है । सुरक्षा भी दूर रही, थोड़ी सी सुविधा कम होना भी बर्दाश्त नहीं । जीवनमूल्यों को टिकाने के लिये इतनी भी कीमत चुकाने को जिस देश की जनता तैयार नहीं है, उस देश में क्या अध्यात्म की बात करें ? और क्या परिवर्तन की बात की जाय ?

कोई पूछे कि 'कितनी चोरी करें ? कहाँ तक पाप करें ? कितना झूठ क्षम्य है ?'–यह ऐसा है कि कोई पूछे 'कितना जहर खायें तो पच जायेगा ?' इस के उत्तर में यही तो कहना पड़ेगा कि भाई जहर मत खाओ ! जहर से नुकसान होगा ही, वह पच नहीं सकता । वही बात जीवनमूल्यों के विषय में है । मानवीय और सांस्कृतिक जीवनमूल्यों के संरक्षण का सङ्कल्प लेकर, उसमें आनेवाली गरीबी को सहने तथा त्याग व बलिदान करने का साहस लेकर भारत के नौजवानों की एक पीढ़ी आज खड़ी हो जाय, जो कहे कि 'भारत की नंग-भूख मिटाने के लिये, अपनी जिन्दगी सच्चाई भरी बनाने के लिये हमने अमीरी का मोह त्याग दिया !'–तो भारत का कायापलट होते देर नहीं लगेगी । इस के लिये घर-बार छोड़ने नहीं हैं, कहीं मठ-मन्दिर नहीं बनाने हैं । रहेंगे जहाँ हैं वहीं । बस अमीरी का मोह छोड़ देना है । और कुछ

भी त्याग करने की बात नहीं । जितना मिलता है ईमानदारी से, यथामति-यथाशक्ति परिश्रम से, उस पर हम सन्तुष्ट रहेंगे ।

—है साहस इतना ! नहीं है । यदि बेटा कहे कि बाजार में देखा है १५०० का रेडियो ७०० में मिल रहा है, तो कहेंगे ले आओ । वह तस्करी का होगा तभी तो आधे या तिहाई दाम पर मिलता है ? पर कौन यह विचार करता है ? हम तथाकथित सभ्य-सामाजिक लोग हैं, हम में ही पड़ी है असामाजिकता । हमारे चित्त में असामाजिक तत्त्व पड़े हैं, इसीलिये तो समाज में हैं ? युवा—शिबिरों में मैं कहा करती हूँ कि पहले इतना तो दृढ़ कर लो कि 'हम रिश्वत नहीं लेंगे । जब लेने वाले नहीं लेंगे तो रिश्वत देनेवाले किस को देंगे ? कहना यही है कि सत्याचरण यदि करना चाहें तो कहाँ तक और कितना ? इसकी मर्यादा नहीं है । यदि हम देश का भला चाहते हैं, अपना भला चाहते हैं, तो इस भोगवादी, सुरक्षा—परायण, सुविधा में आसक्त वातावरण में फिर एक बार त्याग और बलिदान की वह्नि जागृत करनी पड़ेगी ।

अगला प्रश्न मौन ध्यान के बारे में है कि क्या वह स्वयम्पूर्ण स्वतन्त्र साधनामार्ग है ? मौन और ध्यान की जिस साधना की बात दो-तीन दिन से यहाँ हो रही है, वह अपने में परिपूर्ण स्वयम्पूर्ण साधनापथ है । उसके लिये अन्य किसी की अपेक्षा नहीं है । वह साधना क्या करेगी ? वह आप को शब्द से परे, नाद से परे, शून्य में ले जायेगी । सभी सम्बन्धों में से, उपाधियों में से उठाकर निरुपाधिकता में ले जायेगी । सभी गतियों से मुक्त करके जो गतिमुक्त स्थिति या सत्ता है उस आयाम में ले जायेगी । कैसे होगा यह ? मौन में रहने का समय बढ़ाना होगा । कहाँ तक ? जिस की जितनी उत्कटता और क्षमता हो वहाँ तक ।...मुझे जब मौन का आयाम खोजना था, उसमें क्या होता है-देखना था, तब M.A. की परीक्षा पूरी होने के बाद चली गई थी हिमालय में, टिहरी से १२ मील दूरी पर जो स्वामी रामतीर्थ की गुफा थी, उसमें डेरा लगाकर बैठ गई थी । साथ में थे दो कम्बल, दो जोड़ी कपड़े । गंगाजल अञ्जलि में लेकर पीना और जंगल में जो भी फल-मूल-कन्द मिले वही खाना । ऐसे रोज १८-२० घण्टे तक अभ्यास चलता था ।...तात्पर्य यह कि जैसी जिसकी उत्कटता उतना वह मौन में, एकान्त में रहने का समय बढ़ायेगा । इस से Transcendence to the other dimention (अन्य आयाम में उत्क्रांत होना) सम्भव बनेगा ।

प्रश्नकर्ता ने और पूछा है कि मन्दिरों में जो विग्रह की उपासना, पूजा, होती है, मन्त्र जप आदि होते हैं, उनका क्या साधना में कोई स्थान नहीं है ?

—ऐसा मैं नहीं कहती । इतना ही कहूँगी कि पूजा असल में प्रतिमा की नहीं होती है, 'विग्रह' की होती है । प्रतिमा या मूर्ति बाजार में मिलती है । उसे घर लाकर मन्त्रों के द्वारा देव का आवाहन करके उसमें प्राणप्रतिष्ठा की जाती है तब वह मूर्ति आराध्य-विग्रह बनती है । तब उसकी नित्य सेवा-पूजा की जाता है । वह उपासना का मार्ग है । उसका भी एक शास्त्र है । जैसे नामस्मरण में नादयोग-मन्त्रयोग का अपना स्वतन्त्र शास्त्र है । जिस को नादयोग की मार्फत जाना है, वे उस से जायेंगे। अध्यात्म में निषेध किसी का नहीं है । लेकिन मेरा विशेष परिचय मौन और ध्यान के मार्ग से है । इसलिये उस की बात कहा करती हूँ । वह सर्वसुलभ है । उसमें किसी प्रकार के विशिष्ट अधिकार की आवश्यकता नहीं । उसमें एक प्रकार की वैज्ञानिकता है । आधुनिक शिक्षित लोगों को वह समझाना सरल है । मन और बुद्धि के क्षेत्र से निकल कर ध्यान के आयाम में जाने का यह पथ प्रशस्त है, परिचित है, अनुभूत है ।

जिन्हें उपासना या नामस्मरण के रास्ते से जाना है वे जरूर जायें । उस मार्ग से जायेंगे तो देहभाव से पृथक् एक स्वतन्त्र भावकाया का निर्माण करेंगे । जैसी विचारकाया है, वैसी एक भावकाया होती है । विचार और भावना से पृथक्, इनसे अतीत स्वतन्त्र 'भाव' होता है। इस भावकाया द्वारा प्रभु से सम्बन्ध बाँधते हैं । चैतन्य महाप्रभु ने राधाभाव की उपासना दिखाई । अष्टसात्विक भावों से लेकर अष्टादश महाभाव तक युगपत् उनमें प्रकट होते थे । रामकृष्णदेव ने नाम-स्मरण, विग्रह पूजन, भजन-कीर्तन का रास्ता लिया । अन्य मार्गों से भी साधना करके दिखाई। जिसकी जैसी रुचि हो, वही रास्ता ले ।

मौन और ध्यान के पथ में, यह जो संस्कारित चेतना (मन) है, इसके मौन में सारे भूतकाल (व्यक्तिगत तथा मनुष्य जातिगत) की गति अवरुद्ध हो जाती है । भूतकाल का कुछ चलता नहीं है, यदि मन को हम मौन होने दें । तब होता है–Activisation, mobilisation of non cerebral energies. मन और बुद्धि से पृथक् जो संस्कारमुक्त चेतना है, वह गतिशील-कार्यप्रवण बन जाती है । इसलिये आधुनिक समाज से मैं बात करती हूँ मन-बुद्धि से परे जाने के लिये मौन का रास्ता पकड़ने की ।

जिन्हें ईश्वर में श्रद्धा नहीं, वे नामस्मरण-विग्रहपूजन क्या करेंगे ? जप करने के लिये जो एक तितिक्षा चाहिये, दीर्घकाल बैठने का धैर्य चाहिये सहन-शीलता चाहिये वह कहाँ से लायेंगे ? यहाँ तो गिनकर बैठेंगे-कम्प्यूटर लेकर । एक हजार जप से क्या हुआ ? दस हजार से क्या होगा ? कौन सा चक्र खुलेगा ।

सौदा करने में पड़ जाते हैं। उन्हें कहाँ नाम से प्यार है? उन्हें तो मतलब है चक्र-भेदन से मिलने वाली सिद्धि से।···यदि विग्रह का आराधना करने लगे और सौभाग्य से वह विग्रह आँखों में छा जाय–प्रतिक्षण उठते–बैठते–खाते-पीते आस-पास नाचता ही रहे, तो जो सुख होगा उससे बाल-उन्मत्त-पिशाचवत् दशा आ सकती है। अतीन्द्रिय शक्तियाँ जागृत होती हैं, अतीन्द्रिय अनुभूतियाँ आती हैं, तब उनसे होने वाला सुख विषयसुख से भी कहीं अधिक मादक होता है। उसमें मनुष्य अटक सकता है, भटक भी सकता है। भारत में कितने ही लोग पड़े होंगे ऐसी दशा में।

ऐसी दशा में रहने वालों से समाज की क्या आवश्यकता पूरी होगी? नया समाज बनाने के लिये तो आवश्यकता है अभय मानव की। जिसे दूसरों से भय या अपेक्षा नहीं, इसीलिये जिसका चित्त असुरक्षा से ग्रस्त नहीं है। ऐसे मुक्त चित्त वाले मानव का निर्माण उसमें से होता नहीं है, ऊपर से खतरे अनेक हैं उस मार्ग में।···खैर जिसको जो मार्ग पकड़ना है वह अवश्य पकड़ें। परमात्मा के साथ प्रत्येक का सम्पर्क-बिन्दु अलग होगा।···प्रत्येक मार्ग बड़ा गंभीर है सब का अपना-अपना शास्त्र और विज्ञान है। उपासना का अर्थ भी केवल विग्रह के समीप बैठना ही नहीं है। वह विग्रह तो सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त निराकार, निर्गुण निरामय निर्दोष परमात्मा का प्रतिनिधि है। अपने छोटे से कमरे में अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त एक अखण्ड सत्ता को — निराकार ब्रह्म को बाँध लाये हैं आप। इसका यदि अनुसन्धान हो, स्मरण रहे, तो उपासना उपकारक बनती है।

"एक राम दशरथ का बेटा, दूजा राम घट-घट में बैठा।
तीजे राम का सकल पसारा, चौथा राम है सबसे न्यारा।।"

–तो दशरथ के बेटे के नाम-रूप का स्मरण करो, घट–घट में बैठे का अनुसन्धान रखो, सारे संसार-पसारे में राम को देखो और सबसे न्यारे का भी अवधान बना रहे।

यह यदि नहीं किया जायेगा तो फिर 'शिव बड़े या विष्णु बड़े'–इसी बात पर झगड़ा होगा। अरे गुरुओं को लेकर, मूर्तियों को लेकर, गुरुद्वारों और मस्जिदों को लेकर झगडे–फसाद होंगे। उपासना का गाम्भीर्य और पवित्रता धरी रह जायेगी कोने में।···इसलिये शब्दों की फेंकाफेंकी नहीं करनी है। मार्ग सभी सयुक्तिक हैं। जिसको जो अनुकूल और रुचिकर लगे, वे उससे चलें।

'सबके लिये खुला है, मन्दिर यह हमारा!'

ॐ

सप्तम प्रवचन

दि. २४/२/८४ प्रातः ६–३०

मौन में से बाहर निकलने की प्रवृत्ति नहीं होती है। शून्य में से शब्द तक उतर आने की भीतर अनुकूलता नहीं होती है। वैसी ही कुछ दशा आज है। शब्दों के द्वारा जो संवाद होता है वह बहुत पंगु है। शब्दों से अबाधित मिलन बहुत शक्तिशाली है।···[यह तो दरभंगा-क्षेत्र के जिज्ञासुओं को-अध्यात्म के बारे में हमारी क्या धारणा है—इसका परिचय कराने की दृष्टि से शिबिर हुआ है। वस्तुतः ध्यानशिबिर होता तो शिबिर में शामिल होने वालोंके लिये अनेक नियम रहते–(१) ७ या १० दिन की शिबिरावधि में अखण्ड मौन (केवल कार्य के नियमित दो घण्टों में आवश्यक कहने-सुनने को छोड़कर) (२) प्रतिदिन तीन या पाँच घण्टे ध्यान के लिये सबका साथ बैठना। (३) २४ घण्टे में एक बार पूरा अन्न–आहार लेना, दो बार दूध–फल या पानी लेना।···इत्यादि। वे पहले-पहल के शिबिर में सम्भव नहीं थे। अतः केवल परिचय ही कराया गया।] अस्तु।

कल सन्ध्या की सभा में तथा बाद में भी कुछ प्रश्न पूछे गये थे, उन्हें इस समय ले लेते हैं। एक भाई ने पूछा था कि ध्यान-**मौन के लिये बैठने से पहले ॐकार का उच्चारण करना क्या आवश्यक है? क्या उससे लाभ होता है?** इस पर मेरा कहना है कि वह लाभप्रद अवश्य है। जो हमारे साथी हैं या जो सत्सङ्गी साधक हमारे निकट सम्पर्क में रहते हुए अध्यात्मसाधना करना चाहते हैं, उन्हें मैं दिन में अनेक बार ॐकार का उच्च स्वर से उच्चार करते रहने की सलाह देती हूं। '**ॐमित्येकाक्षरं ब्रह्म**' कहा गया है। ब्रह्म की कहो तो सगुण और कहो तो निर्गुण–ऐसी मूर्त्ति है यह ॐकार। 'ॐतत् सत्' मङ्गलवाचक है, शुभसूचक है, अनन्त-गुण है। मूल बात तो यह है कि यह स्वयंसिद्ध, स्वयम्भू अनाहत नाद है जो विश्व के हर पदार्थ में अपने आप चलता रहता है। मिट्टी के कण-कण में, पत्थर की शिलाओं में यह ॐकार नाद चलता है। विश्वभर के सूक्ष्मसंवेदनाशील लोगों ने इसे किसी न किसी प्रकार से पहचान कर स्वीकार कर लिया है। तिब्बत में 'ॐ मणिपद्मे हुम्' में सम्पुट प्रणव है। 'हुम्' भी ॐ ही है। (मन्त्र के प्रारम्भ में और अंत में एक ही ध्वनि रखें तो सम्पुट कहलाता है।) मध्यपूर्व में 'अल्लाह हु अकबर' का घोष होता है। 'हु' कहीं न कहीं अवश्य जोड़ा जाता है नमाज में और सूफियों की प्रार्थना में भी। 'हु' भी ॐका ही एक लघुकृत प्रकार है।

ॐ कार सहज स्वयम्भू अनाहत नाद है। अनाहत याने जो कहीं आहत होकर उत्पन्न नहीं होता। अन्य सभी वर्ण (अक्षर) नाभि से उठकर कण्ठ से मूर्धा तक कहीं न कहीं घर्षण से उत्पन्न होते हैं, वे आहत नाद कहलाते हैं। ॐकार किसी घर्षण से नहीं निकलता। समझने के लिये इसका एक नाप (साढ़े तीन मात्रा) मान लिया गया, किन्तु अपने आप में ॐ स्वयम्पूर्ण अनाहत नाद है। यदि ॐ का उच्चारण शुद्ध ढंग से किया जाय तो वह नाभि में से उठता है, श्वास की मदद से ऊपर चढ़ते हुए वँखरी में स्फोट पाता है। इसका बारम्बार उच्चारण करने से श्वास और रक्त की शुद्धि होती है; स्वरशुद्धि तो होती ही है।...ॐ के उच्च स्वर से उच्चारण में अनेक प्रस्तार किये जा सकते हैं। कभी 'ओ' को लम्बाना, कभी 'म्' की गूँज को लम्बाना, कण्ठ से नाभि पर्यन्त की नलिका रूपी खरल में इस नाद को तरह-तरह से घूँटना, विविध कुम्भक करना, बहुत लाभकारक है। 'ओ' को लम्बाते हैं तो बहिःकुम्भक होता है; 'म्' को लम्बाते हैं तो श्वास को अन्दर धारण करते हैं। ऐसे ऊँकार द्वारा दोनों कुम्भक होते रहने से शरीर की शुद्धि होती है।

मौन-अभ्यास के लिये बैठते समय ॐ का उच्चारण करते हैं तो शरीर की शुद्धि होगी ही, साथ ही जिस आसन पर बैठते हैं उसकी भी शुद्धि इन स्पन्दनों द्वारा हो जायेगी। जिस जमीन पर बैठे हैं, उसकी तथा आसपास के वातावरण की भी शुद्धि हो जायेगी। क्योंकि जब ॐ का गहरा उच्चारण करते हैं तो भीतर अग्नितत्त्व प्रज्ज्वलित हो उठता है। ऐसी बातें सभा-प्रवचनों में नहीं कही जातीं लेकिन विशिष्ट प्रश्न का उत्तर देना धर्म है। जितनी भूख हो उतना परोसा जाय।...जिनका प्रश्न है उनसे कहूंगी कि अवश्य ॐ कार का उच्चार किया करें। केवल मौन में बैठते समय ही नहीं, जब जहाँ जितना समय मिले—खेत में, खलिहान में, घर में, छत पर जोर से ॐ का उच्चारण कीजिये। २१ दिनों तक प्रयोग कर के देखना। आँखों की ज्योति बढ़ती है, दीर्घश्वास की शक्ति बढ़ती है। भूख खुलती है। अन्नपचन होता है। एक बड़ी युक्ति है यह ॐ कार। उससे होने वाले अन्य लाभों का विवरण करने का यह समय नहीं, लेकिन शुद्धिकरण का यह एक महामन्त्र है।...वैसा ही गायत्री मन्त्र है। 'गायन्तं त्रायते इति गायत्री' वह सविता की शक्ति है। शुद्ध उच्चारण से, मनुष्य को अनेक दुःखों-कष्टों में से उबारने की शक्ति गायत्री मन्त्र में है।

किसी ने पूछा था कि—**आँखों के बीच, भ्रूमध्य में चित्त को एकाग्र किया जा सकता है? करना चाहिये?** उस पर मेरा कहना है कि वह ध्यान या मौन का अभ्यास नहीं है। ध्यान कोई क्रिया-प्रक्रिया नहीं है।

मन की समस्त गतियों के स्थिर होने पर मौन है और मौन के स्थिर होने पर ध्यानावस्था है। किसी बिन्दु पर चित्त को एकाग्र करना-यह तो धारणा का अभ्यास है। उसकी अनेक युक्तियों में से एक यह भी है–भ्रूमध्य में त्राटक साधना। कोई हृदयस्थान पर, कोई नाभिकेन्द्र पर कोई मेरुदण्ड के आधार पर चित्त को या भीतर से दृष्टि को एकाग्र करते हैं। ये धारणा के अभ्यास के प्रकार हैं।

धारणा के लिये भी कन्याओं को, बहनों को भ्रूमध्य में चित्तवृत्ति या दृष्टि स्थिर करने की सलाह बहुत कम देती हूँ। यों तो कोई भी कर सकता है, और कन्याओं के लिये निषेध नहीं कर सकते। लेकिन भ्रूमध्य में आज्ञाचक्र पर धारणा के अभ्यास से चित्तवृत्तियों का इतना ऊर्ध्वीकरण हो जाता है कि फिर घर-काम में चित्त लगाना, मुश्किल हो सकता है। बहनों में संवेदनशीलता पुरुषों से अधिक होती है, इसलिये उनकी प्रगति शीघ्र हो जाती है। जैसे कुछ कम-जोरियाँ हैं वैसे कुछ विशिष्ट शक्तियाँ भी स्त्रीदेह में हैं।

[हमारी आयु १२ वर्ष की थी तब हमने साथी बहनों में ध्यान का, योग का अभ्यास करने-कराने का क्रम शुरू किया था। जहाँ पढ़ते थे वहाँ एक 'विवेकानन्द–मण्डल' बनाया था। साथ में पढ़ने वाली लड़कियाँ उसमें आती थीं। उनमें एक बहन थी वह पढ़ाई में, उम्र में भी हमसे बड़ी थी। आसन सिखाती थी मैं। सर्वाङ्गासन सिखाया, शीर्षासन भी सिखा दिया था। उस बहन को मैंने कहा कि तुम शीर्षासन मत करो। नुकसान होगा। उसको बड़ा शौक था शीर्षासन किये हुए उसी अवस्था में भृकुटिमध्य में चित्तवृत्ति एकाग्र करने का और ॐकार का जप करते रहने का। मैंने बहुत बहुत कहा कि तुम्हारे लिये यह हानिकारक है। उसने माना नहीं, उसे भारी बीमारी हो गई। सारा खून मस्तक में जमा होने लगा।...]

भृकुटी में धारणा करने से नजर ऊपर चढ़ जाती है-'शूली ऊपर सेज हमारी'। तो फिर कन्या का मन पढ़ाई में, घर के काम में, संसार की प्रवृत्तियों में कहीं भी लगता नहीं है। अतः भृकुटी में धारणा का अभ्यास वही करे जिस पर संसार की कोई जिम्मेवारी नहीं है। नौकरी नहीं करनी है, व्यवसाय नहीं करना है, केवल भगवदर्थ जीवन समर्पित करना है। वह तो भ्रूमध्य ही क्यों ब्रह्मरन्ध्र पर भी धारणा कर सकता है।

फिर सुरक्षित क्या है? जिन्हें संसार में रहना है, गृहस्थाश्रम संभालना है, वे चाहें तो हृदयचक्र पर धारणा करें। नाभि तक भी जा सकते हैं। धारणा का अर्थ है आँखें बन्द करना, वृत्ति स्थिर करना और श्वास के साथ नाभि पर पहुँच जाना या श्वास के साथ भ्रूमध्य या ब्रह्मरन्ध्र पर पहुँच जाना। यह

सब जिन्हें नहीं करना है वे श्वास के साथ अंदर जायें श्वास के साथ बाहर आवें । यह स्वर्ण-मार्ग है । ये सब धारणा के अभ्यास के मार्ग हैं । ध्यान से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। ध्यान तो एक अवस्था है जिसमें आपके मन-बुद्धि की प्रत्येक स्वायत्त और स्वैच्छिक क्रिया शान्त है। वह आपको जागृति-स्वप्न-सुषुप्ति-तीनों से न्यारी तुरीयावस्था में ले जाता है ।

एक **प्रश्न** था कि जब **मौन में बैठते हैं तो विचार बहुत आते हैं । उन विचारों को देखने जाते हैं तो** पता नहीं क्या हो जाता है शून्य जैसी अवस्था हो जाती है, **क्या हो रहा है कुछ पता नहीं रहता** । फिर **थोड़ी देर में ख्याल आता है कि 'यह क्या हो गया ?** मैं तो विचार को देख रहा था' फिर देखने लगते हैं । ऐसे lapses (गुम हो जाना) होते रहते हैं । कभी विचार को देखने गये तो उस के साथ बह जाते हैं, फिर **होश आता है कि अरे ! मैं तो बह गया । विचार को तो देखना था, उसके साथ वह नहीं जाना था । ऐसे जो बीच-बीच में देखने की अवस्था छूट जाती है— उसके साथ क्या करें ?**

इसी को मैं 'प्रश्नोत्तरी' कहती हूँ । [कल जो प्रश्न पूछे गये, वे तो शैक्षणिक-सैद्धान्तिक प्रश्न थे । वे शिबिर-प्रश्नोत्तरी के अनुरूप नहीं । साधना के विषय पर प्रश्न पूछने हों तो अपने जीवन पर खिले हुए प्रश्न होने चाहियें । पन्थों में से, सिद्धान्तों में से प्रश्न पूछे जायेंगे तो उत्तर देने ही होंगे क्योंकि यह व्यासपीठ है । इसकी मर्यादा है कि जो भी प्रश्न पूछा जायेगा उस का पूरी गम्भीरता से, यथाशक्ति-यथामति उत्तर देना धर्म है । लेकिन राजनीति में अध्यात्म कैसे दाखिल होगा । होने पर परिवर्तन कैसे आयेगा ? इत्यादि सब सिद्धान्तों के, उधारी के सवाल थे । उस पर मुझे जो कहना था, कह दिया । वास्तव में तो राजनीति का अध्यात्म जितना गांधी-विनोबा ने जाना है उतना किसी ने नहीं जाना ।... हम आये हैं यहाँ ध्यान-शिबिर में । सिद्धान्तों की, शास्त्रों की, ग्रन्थों-पन्थों की बातें करने नहीं । वह करना हो तो अलग सैद्धान्तिक शिबिर किया जा सकता था । उस में हर-एक पन्थ का, पूर्व-पश्चिम के दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, इतिहास और राजनीति का अध्ययन आदि कर सकते हैं साथ बैठ कर । लेकिन उस में रुचि नहीं । जिन्हें सचमुच साधना करनी है या कर रहे हैं, उन्हें साधना में कहाँ क्या कठिनाई आती है, ऐसी बातें पूछी जायें तो कुछ अनुभव की बातें कही जा सकती हैं । नहीं तो किताबी बातों का ही लेन-देन कर के खाली हाथ घर लौटना होगा ।]—खैर, यह सुन्दर प्रश्न किया गया कि मौन के लिये बैठने पर विचार आते हैं, उन्हें देखने में साथ

बहना हो जाता है इत्यादि।...बड़ा स्वाभाविक है यह। विचार तो आयेंगे ही। जिन्दगी भर यही तो किया है? और मन चलने लगा, नाचने कूदने लगा तो उस के साथ हम भी नाचे-कूदे हैं।

'अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल।
काम-क्रोध को पहिरि चोलना, कण्ठ विषय की माल।'

—यह केवल सूरदास की बात नहीं, हम सब की है। मन के गुलाम बनते हैं और इसी को ज़िन्दगी मानते हैं।

अब क्या हुआ? आप मौन के अभ्यास के लिये बैठे तो विचार आने पर, मन चलने पर, आप उसकी पकड़ में नहीं गये, शिकार नहीं बने। पर जिन्दगी भर जो किया है उस की पकड़ शुरू में ही सर्वथा छूट नहीं जाती। इसलिये आरम्भ में विचार के साथ बहना हो जाता है। लेकिन आप विचार के साथ बह गये हैं—यह आप के कान में कहा किसने? पूरी तरह बह गये होते तो होश वापिस कैसे आती? बाहर से तो कोई कहने नहीं पहुँचा कि 'तू बह गया है, लौट आ!' खुद ही होश आती है, यानी चेतना के एक हिस्से में देखना कायम है और दूसरा हिस्सा आदतन बह जाता है! तो उस के लिये अपने साथ धीरज से काम लेना होगा।

बड़ी उम्र में साधना प्रारम्भ करते हैं तो कठिनाई अधिक होती है। अधिक धीरज चाहिये। छोटी उम्र में साधना करने लगें तो इतनी कठिनाई नहीं होती क्योंकि उस समय तक चित्त ने संसार के इतने विषयरस चखे नहीं होते हैं; अहङ्कार इतना पुष्पित-पल्लवित नहीं हुआ होता है। बड़ी उम्र में चखे हुए विषयों के रस व स्मृति में मन भटकता है। रामकृष्णदेव कहते कि जिस बर्तन में एकबार प्याज-लहसुन पकाया है उसको दस बार मांजने पर भी कुछ तो गन्ध शेष रह जाती है। इसलिये कहते हैं कि गृहस्थाश्रम में प्रवेश से पहले, ब्रह्मचर्यावस्था में यदि साधना शुरू हो जाय तो उस की तीव्र प्रगति होती है। समग्र उत्क्रान्ति (Total transformation) के साथ इसीलिये ब्रह्मचर्य को जोड़ा गया है। **'ब्रह्मणि चरति इति ब्रह्मचारी'**। ब्रह्म में ही उस की वृत्तियाँ चल रही होती हैं रात दिन। **'सुरत न आन चली'**—कबीर साहब कहते हैं कि जब से गुरु का मिलन हुआ तब से 'सुरता' और कहीं गई ही नहीं।

अपना मन तो जाता है। क्योंकि जिज्ञासा वैसी उत्कट नहीं है। अतः शुरू में मन भटक जाता है। फिर वापस आता है। थोड़े समय तक यह क्रम चलेगा। इससे घबराइये नहीं। क्योंकि आप के भीतर ही वह शक्ति जाग रही है जो बहने पर थोड़े समय में वापिस ले आती है। शिक्षणकाल में यह बहना फिर

वापस आना चलेगा। आप पूछेंगे इसे जल्दी से जल्दी कैसे खतम करें? इस को यदि खत्म करना है तो संसार के, समाज के, कुटुम्ब के कामों से, जिम्मेवारियों से जरा छुट्टी ले कर कम से कम तीन महीने तक, अधिक से अधिक नौ महीनों तक सारी शक्ति इस में लगा दीजिये। स्वयंपाकी बन कर दिन में एक या दो बार भोजन किया। बाकी पूरा समय मौन में बैठे। एक-डेढ़ घण्टा बैठने से शरीर जकड़ जाता है तो थोड़ा टहल लिया या दो-तीन आसन कर लिये, फिर बैठ गये। दो-दो घण्टे बाद ऐसा करते हुए यदि दिन में १६ घण्टे तक अभ्यास बढ़ायेंगे तो मन के साथ बहने या 'गुम' होने की कठिनाई को शीघ्र लाँघना हो जायेगा।

आप प्रतिदिन पौन घण्टा या एक घण्टा ही बैठते हैं तो अधिक समय लगेगा। यह गणित जैसा हिसाब है। कम समय में करना चाहते हैं तो फिर उत्कटता से उसी के पीछे लगना पड़ेगा। प्रतिदिन अधिक-अधिक समय बैठना होगा। पूरी तरह उसी के समर्पित रह सकें ऐसा नौ महिने का समय निकालें। माँ के गर्भ में जैसे नौ महीने पड़े रहते हैं, वैसे मौन के गर्भ में पड़े रहना होगा। वह नहीं हो पाता है, तब तक ऐसा ही बीच-बीच का विच्छेद चले, तो घबराइयेगा नहीं। आप देखेंगे कि महीने-दो महीने बाद यह विच्छेद की अवधि घटेगी और समयान्तर बढ़ता जायेगा। द्रष्टृत्व में स्थिर रहने का समय बढ़ता जायेगा। विच्छेद की freequency, duration & intensity कम होती जायेगी।

घोर कलिकाल में, चारों तरफ़ की प्रतिकूल परिस्थिति में रहना है, घर में कुटुम्बीजन भी अनुकूल नहीं होंगे—ऐसी स्थिति में साधना करनी है, तो समय तो लगेगा ही। धीरज से काम लेना होगा। सब लोग सो जाँय तब बैठना, किसी के भी उठने से पहले बैठना कि आप के बैठने पर किसी की नजर न पड़े। क्योंकि जब विचारों का आना शान्त हो जाता है तो कभी-कभी शरीर काँपने लगेगा। मौन की गहराई और उत्कटता यदि शरीर को सहन न हुई तो कभी शरीर काँपने लगता हैं, कभी डोलने लगता है, कभी अकारण आँसू आ जाते हैं तो कभी अकारण थोड़ी हँसी आ जाती है। इतना ही नहीं, अनेक मुद्रायें शरीर पर अपने आप प्रकट होने लगती हैं। दूसरा कोई देखेगा तो नाहक घबरा जायेगा। इसलिये यह साधना एकान्त में करनी उचित है। अपने लिये अलग कमरा न हो तो सब के सोने के बाद बैठें।

यह चीज़ मैंने दादा में देखी। कोई नहीं जानता होगा कि दादा धर्माधिकारीजी, दिनरात बुद्धिवाद की बात करने वाले दादा, जप में विश्वास करते

हैं या जप करते हैं। दादा के साथ प्रवास करते तीन-चार साल बीते तो भी मुझे पता नहीं था। एक बार ऐसा हुआ कि रात को दो बजे मेरी नींद खुली। उठ कर देखा तो दादा अपने बिस्तर पर बैठे हुए हैं और हाथ में माला है। चौंकी मैं, 'अरे! दादा के हाथ में माला? मज़ाक करते थे मेरा हमेशा —प्रार्थना और भजन के लिये। पास जा कर देखा, बैठ कर माला पर उपांशु जप चल रहा था। मुझे कल्पना भी नहीं थी कि इन के पास माला भी है। वे अपने तकिये में गिलाफ के अन्दर बड़ी युक्ति से रखते थे कि बिस्तर लगाते समय भी किसी को पता न चले कि इस में माला रखी हुई है।... सुबह उठकर दादा से कहा कि आप की चोरी हमने पकड़ ली है। बोले 'क्या हुआ?' मैं ने कहा 'आप भी रात को जप करते हैं, दो बजे उठ कर। किसी को पता भी न चले।' ...भक्ति ऐसी ही होती है अव्यभिचारिणी, कि परमात्मा के सिवा किसी को पता भी न चले उस का।... तो, यह जो मौन या ध्यान का अभ्यास करना है वह ऐसी खूबी से किया जाय कि कोई जान न पाये।

अभ्यास प्रारम्भ करते हैं तो शान्त बैठने पर विचार आयेंगे। विचार आये हैं इसका ख्याल होगा। देखने जायेंगे। उसमें कभी बह जायेंगे फिर वापस आयेंगे। अपने साथ बहुत कठोर नहीं बनना है। जो हो रहा है उसे देखते रहिये। देखना स्थिर होने दो! द्रष्टृत्व में स्थिरता आ जाय, यहाँ तक पहुँचिये, आगे का प्रभु सँभाल लेंगे। रास्ते पर जो निकल पड़ता है उसे सँभालने के लिये प्रभु समर्थ हैं। वे ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करेंगे, ऐसे व्यक्तियों से मिला देंगे, जिनसे मदद होगी।

एक तरफ़ जीवन के शुद्धिकरण का प्रयत्न करना, दूसरी तरफ़ विचारों को देखने का अभ्यास चालू रखना। आपको पता भी नहीं चलेगा और विचारों का दिखना शान्त हो जायेगा। विचार यह कह कर शान्त नहीं होंगे कि 'अब हम शान्त हो रहे हैं।' अचानक, हठात् कुछ भी नहीं दिखेगा। दिखना गायब और देखने वाला भी गायब! द्रष्टा–दर्शन और दृश्य तीनों गायब हैं – ऐसी शून्यावस्था तक यह देखना पहुँचा देगा। तब तक धीरज रखना है।...

गिनना नहीं है कि दो महीने बैठे, तीन महीने बैठे, कुछ हुआ नहीं। अरे भाई! ४०–५० साल तक तो कुछ किया नहीं, अब तीन महीने में ५० साल की आदत सब धुल जायेगी? और वह भी २४ घण्टे में एक–दो घण्टे बैठ कर? बाकी २२—२३ घण्टों में तो मन की बन्दर-कूद चालू ही है। इसी में ४०-५० साल बीते हैं। अब चाहते हैं कि झटपट चित्त शान्त हो जाय! कैसे होगा भाई! खेती में पहले हल चलाना पड़ता है, जमीन को तैयार करना पड़ता है। बीज

बोने और उगने के बाद उस में घास-फूस उगे हों तो उन्हें निकालना—निराई करते रहना पड़ता है। तब खेती होती है न! किसान के जितनी भी हिम्मत हम न रखें तो अध्यात्म क्या होगा? भगवान् बुद्ध कहा करते कि मैं किसान हूँ। मैं खेती करता हूँ अपने मन की।...

किसी ने बहुत निर्दोषता से **प्रश्न** पूछा है कि **पाप क्या है?** महाभारतकार कहते हैं **'पापाय परपीडनम्'** जिस कर्म से दूसरे को पीड़ा पहुँचती है, वह पाप है। यह पाप की एक व्याख्या है। दूसरी है — समझ में जो सत्य आया उस पर आचरण नहीं करना – भय के कारण, लोभ के कारण, अड़ोस-पड़ोस या परिवार के लोगों के कारण, – अपनी **समझ में आये हुए सत्य पर आचरण नहीं करना पाप है।** अनुग्रह करके प्रभु अपने भीतर बैठे हैं, उन्हों ने समझा दिया कि 'यह सच है, यह झूठ है,' 'यह सही है, यह करना गलत है, अधर्म है, अन्याय है,' फिर भी हमें लगता है कि झूठ और अन्याय से ही तो सारी दुनिया चलती है, धन-सम्पत्ति जमा होते हैं, ऐश-आराम की सामग्रियाँ जुटती हैं, मैं सच को लिये रहूँगा तो मेरे पास कुछ भी नहीं होगा! —और हम जान-बूझ कर सत्य को छोड़ देते हैं। जिस की समझ में ही नहीं आता कि सच क्या और झूठ क्या? उसकी बात अलग है, लेकिन समझ में आने के बाद जो समझ से द्रोह किया जाता है, वह बेवफ़ाई पाप है।

आखिर यह देह मरने वाली ही है न! टिकने वाली तो है नहीं। कभी न कभी, किसी न किसी तरह मरना ही हैं। तो अपनी समझ में जो चीज आई उसका आचरण करते हुए ही क्यों न मरे आदमी? लेकिन गोली खा कर मरना आसान है, और समझ पर आचरण करते हुए जीते चले जाना-यह जिन्दा शहादत बड़ी मुश्किल मालूम पड़ती है। मनुष्य डर जाता है। कितने ही बहानों की आड़ ले कर, अपनी समझ में जो आया उसे जीता नहीं है। यह पाप है। अपने चित्तमें विकार उठते हैं–यह भान हुआ। लेकिन उन विकारों की कोई व्यवस्था नहीं की, उन में अराजकता पैदा होने दी। फिर वे विकार अनाप – शनाप दौड़ाने लगेंगे मनुष्य को। ऐसे **विकारों को अराजकता तक जाने देना पाप है।**

जैसे मान लीजिये काम-विकार की (प्रत्यक्ष) प्रतीति हुई, अनुभव आया। जवानी में कामविकार का अनुभव होना स्वाभाविक है। शरीर के साथ गुंथे हुए हैं विकार। 'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ!' —वासुदेव कहते हैं कि धर्म के अविरोध से काम को जी लो! उस में भी मैं साथ हूँ। सन्तति

को जन्म देने के लिये परमात्मा की ही सृजनशक्ति मनुष्य को मिली हुई है 'प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः'। कल्पना कर सकते हैं कि इतनी सूक्ष्म बूंद में से माँ के शरीर में कैसे बालक का पूरा शरीर बन जाता है? वटवृक्ष के बीज में सारा वटवृक्ष छिपा है, वैसे वीर्य के अणुमात्र बिन्दु में सारा का सारा मनुष्य छिपा है। पत्थर में कोई शिल्प बनाता है तो शिल्पकार की प्रशंसा होती है। वह कौन सा शिल्पी है जिसने नन्हीं सी बूंद में सम्पूर्ण मनुष्य को ऐसा बैठाया है जो धीरे-धीरे समय पा कर प्रकट होता जाता है।

पता नहीं, लोगों को भगवान् क्यों नहीं दिखते हैं? जीवन के हर हलन-चलन में वही तो शक्ति है?... सृजनशक्ति जैसी पवित्र वस्तु को आज लोगों ने कितनी अशुचि, छिछली, बाजारू बना दिया है... खैर, तो जब मालूम हुआ कि मुझ में कामविकार जागृत हो रहा है, उसकी पूर्ति की आकांक्षा है, तो उसकी व्यवस्था करनी चाहिये। पशुओं में वह प्राकृत सहजवृत्ति-मात्र है और वह निसर्ग द्वारा ही नियन्त्रित भी है। वहाँ समाज नहीं, अतः व्यवस्था की अपेक्षा नहीं। मनुष्य प्राकृत से संस्कृत बना। उसने सभ्यता-संस्कृति-समाज बनाये। अत एव नैसर्गिक विकारों की व्यवस्था खड़ी की। काम की व्यवस्था के लिये 'विवाह'-योजना की। 'नर-मादा' से ऊपर उठ कर 'स्त्री-पुरुष' 'वर-वधू' 'पति-पत्नी' और 'माता-पिता' बने मनुष्य। जनक-जननी तो पशु-पक्षियों, वनस्पतियों में भी हैं। लेकिन मनुष्य ने 'काम' की व्यवस्था करके उसे 'प्रेम' में रूपान्तरित किया यह संस्कृति का सार है।... जागे हुए विकार की व्यवस्था न करना पाप है।

... बीच में एक सज्जन बोल उठे हैं कि अविवाहित व्यक्ति क्या करें? सीधी बात हैं कि यदि विकार जागने की प्रतीति हुई है तो या तो विवाह कर लेना चाहिये, यदि विवाह नहीं करना है तो विकार से ऊपर उठने की साधना भलीभाँति करनी चाहिए। प्रामाणिक-ब्रह्मचर्य-साधना करनी चाहिए। अविवाहित लोगों के लिये पश्चिम के जो रास्ते हैं, वे बड़े बीभत्स है। वे कैसे नैतिक और शारीरिक पतन में ले जाते हैं इस की व्याख्या करने का न यह समय है न औचित्य है। पाप की व्याख्या में मैं ने सहज भाव से कहा कि विकारों की सम्यक् व्यवस्था होनी चाहिये।

पाप का तीसरा प्रकार है —शोषण। यानी खुद तो थोड़े से थोड़ा काम करूँ, अधिक से अधिक पारिश्रमिक चाहूँ, और दूसरों से अधिक से अधिक काम करा के थोड़े से थोड़ा दाम दूँ। यह पाप है। सरकार हर ६ महीने पर रेल-बस का किराया, वस्तुओं के दाम बढ़ाती चली जाय, वहाँ कुछ कर नहीं

सकते, और घर में आने वाले नौकर, मजूर, फेरीवाले से भाव–तोल कर के अधिक से अधिक कम दाम देने में 'कुशलता' बरतते हैं। वह शोषण पाप है। यह शोषण की सामान्य व्याख्या और दैनिक जीवन से दृष्टान्त हैं। आगे–आप स्वयं समझ लें।

हाँ, विकारों की व्यवस्था के सन्दर्भ में कहना है कि उस में काम–क्रोध–मद–मोह–मत्सर सब आ गये। सब की व्यवस्था होनी चाहिए किसी भी प्रकार अराजकता क्षम्य नहीं। कितना अमानुष व्यवहार होता है– आज! क्रोध आया इसलिये बच्चे को पीट दिया! पत्नी को मारा! क्रोध आया इसलिये दलित–शोषित इकट्ठे होकर दूसरे वर्ग का खन करने लगे! क्रोध मनुष्य को हिंसा पर उतारू कर दे, द्वेष–घृणा तक ले जाये—ऐसा विद्रूप उसे क्यों होने देना? करना है सहजीवन! मुट्ठीभर लोगों की गर्दनें उतार देने से व्यवस्था तो नहीं बदली जातीं। जिन्होंने गर्दनें उतारीं उनकी हत्या करने की ताक में मरनेवालों के बाल–बच्चे रहेंगे। इस का तो कोई अन्त नहीं है। एक हिंसा से दूसरी हिंसा को काटने गये तो और हिंसा के बीज बोये जाते हैं, यह हजारों वर्षों का मनुष्य जाति का इतिहास है।

ऐसे ही वाणी और बर्ताव द्वारा क्रोध प्रकट करके दूसरों के दिल पर जो घाव कर देते हैं — अपमान करेंगे, उपेक्षा करेंगे, गाली-गलौच करेंगे — उन को लगता है कि क्रोध व्यक्त करके हम क्रोध से मुक्त हो गये। ऐसे मुक्त नहीं हुआ जाता। आज आपने जिन का दिल दुखाया वे कल आप का दिल दुखायेंगे–ऐसी परिस्थिति जीवन पैदा कर देता है। This is a moral low of universe.

खैर पाप की व्याख्या में तो बहुत समय लग सकता है। मैं इतना मानती हूँ कि विकारों को स्वच्छन्द होने देना, अराजकता पैदा होने तक उन्हें छूट देना पाप है। इस से या तो मनुष्य स्वयं त्रस्त–पीड़ित हो कर विकृत मस्तिष्क वाला मानसिक रोगी (mental case) बन जायेगा या फिर असामाजिक तत्त्व बन कर अपराध करने लगेगा। अतः समय रहते सँभल जाना चाहिये।

मैं बनी-बनाई व्याख्यायें नहीं दे रही हूँ, उस के लिये तो नीतिशास्त्र के ग्रन्थ पढ़े जा सकते है। वे नातिशास्त्र भी अलग-अलग हैं सब धर्मसम्प्रदायों तथा जाति व कबीलों के। उन सापेक्ष नीतिनियमों की बात मैं नहीं कर रही हूँ मूलभूत बात कह दी कि जिस से दूसरे को पीड़ा होती है, अन्ततः अपनी भी हानि निष्पन्न होती है, ऐसा कुकृत्य जब जान–बूझ कर किया जाता है, तब उस

को पाप कहते हैं। बिना समझे अज्ञान में हुआ हो तो वह भूल हुई है। समझते हुए और करना न चाहते हुए भी किसी कमजोरी के कारण हो गया हो तो वह अपराध है, और समझबूझ कर कमजोरी के बिना ही हेतुपूर्वक करते हैं तो वह पाप है। भूल–अपराध और पाप के वर्गीकरण को समझ लेना चाहिये। सच्चे गहरे पश्चात्ताप से इन की क्षमा हो सकती है। यदि समग्रता से इन का स्वीकार करते हुए समर्पण हो जाय तो मुक्त भी हुआ जाता है। गीता में वासुदेव कहते हैं—

'अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः॥

—जिस ने खूब दुराचार किये हैं वह भी यदि अनन्य भाव से मेरी शरण में आ जाय तो वह साधु के पथ पर चल पड़ा है यही मानना चाहिये। ऐसे अनेक उदाहरण भी मिलेंगे जो पापाचरण में से पलट कर सन्तत्व की ओर बढ़ गये।...

ॐ

अष्टम प्रवचन

दि. २४/२/८४ प्रात: १०.३० बजे

इस समय भी **दो प्रश्नों** को लेना है।

१ सामुदायिक चित्त का निर्माण कैसे किया जा सकता है?

२ Spirituality और Spritulism में क्या अन्तर है?

ये सैद्धान्तिक प्रश्न हैं। मैं ने प्रभात में कहा ही था कि सैद्धान्तिक या दार्शनिक बातें करने के लिए मेरा यहाँ आना नहीं हुआ है।... अस्तु, यथावकाश जितना हो सके अपना चिन्तन रखती हूँ।

पहले तो हमें पता ही नहीं है कि मन की संरचना (Mechanism of mind, anatomy of mind) क्या है। अपने शरीर को ही हम देख नहीं पाते हैं, समझ नहीं पाते हैं। जो ज्ञात है, उस से परिचय पाने की मनुष्य कोशिश नहीं करता। इस गुमान में रह जाता है कि जो ज्ञात है वह परिचित ही है। मान लेता है कि ज्ञात होने के नाते ही उस से हमारा सम्बन्ध भी बना हुआ है, भले जरा भी सम्बन्ध न हो। ऐसे कुछ भ्रम हम पाल रखते हैं, जिन के कारण जीवन की यथार्थता का साक्षात्कार नहीं होता। यथार्थता के साथ जीना भी हो नहीं पाता। नदी बह रही है और हम किनारे ही बैठे रह जाते हैं। जिस व्यक्ति ने प्रश्न उठाया उसे क्या पता कि आज जो 'मन' है, वह है ही 'सामुदायिक मन' (collective mind) व्यक्तिमत्ता (individuality) आज कहीं भी नहीं है। जिस को हम अपने विचार, भावना, वासना, इच्छायें, प्रतिक्रियाओं के ढाँचे–इत्यादि शब्दों से कहते हैं वे सब सामुदायिक मन की कृतियाँ हैं। (They are all products of collective mind, organised & standardised cerebral ways of behaviour.) इन का हमें प्रशिक्षण दिया गया है, शिक्षा नहीं। शिक्षा में उद्‌बोधन होता है, करने न करने का विकल्प रहता है। प्रशिक्षण में परिस्थिति में एक अनिवार्यता पैदा कर दी जाती है, और उस दबाब के प्रति कैसी प्रतिक्रिया करें यह सिखाया जाता है। सरकस में जैसे पशुओं को प्रशिक्षित किया जाता है, वैसे मनुष्यों के मन-बुद्धि को भी प्रशिक्षित किया गया है। तभी बने हैं 'हिन्दू मन' 'मुस्लिम मन' 'जैन मन' 'बौद्ध मन' 'पूंजीवादी मन' 'साम्यवादी मन'। ये सब किन्हीं पद्धतियों से निर्माण किये गये हैं।

हमारा मन चलता है तब वस्तुतः चलती हैं वे पद्धतियाँ, संस्कार, प्रतिक्रियाओं के ढांचे, –जो बचपन से अब तक हमारे भीतर भर दिये गये हैं–घरों में, विद्यालयों में, व्यवसाय-सम्बन्धों में। आर्थिक–राजनैतिक सन्दर्भों के कारण कुछ मान्यतायें–धारणायें लादी गई हैं, कुछ आनुवंशिक चली आई हैं। तो जब हम व्यवहार करते हैं, वह उस सामुदायिक मन द्वारा परिस्थिति के प्रति प्रतिक्रिया ही होती है और मानते हैं कि हम कर्म कर रहे हैं। (This is the specimen of collective mind that is reacting to the situation.)

हमारा कोई भी कर्म स्वायत्त नहीं है। प्रतिक्रियाओं की शृंखला के साथ ७०–८०–९० वर्ष चले जाते हैं। यह प्रतिक्रिया–शृंखला कर्म नहीं है। स्वायत्त कर्म के बिना मनुष्य के जीवन में आनन्द या रस की उपलब्धि नहीं है। हमारा चित्त सामुदायिक ही है, इस के द्वारा व्यवहार में जो अभिव्यक्ति होती है उस में वैयक्तिकता (individuality) नाम की कोई चीज़ रह नहीं गई है जो मौलिक हो, अद्वितीय हो, जिस में से स्वायत्त कर्मों का झरना फूट निकले। किसी तनाव–दबाव की प्रतिक्रिया के रूप में नहीं। सहजता (spontaneity) से कर्मसरिता बह उठे ऐसा एक वैयक्तिक चित्त बन नहीं पाता है– जिस संस्कृति और सभ्यता में हम पले हैं, उस में।

महाभारत के युद्ध के बाद से जो एक सांस्कृतिक अधःपतन इस देश में शुरू हो गया और अब पराकाष्ठा को पहुँच रहा है, उस से व्यक्ति और वैयक्तिक चित्त बन पाया ही नहीं। जीवन स्वायत्त हो, कर्म स्वायत्त हो, तब तो वैयक्तिक मन बने! आज तक कैसे बना है चित्त? 'कैसे सोचें?' 'कहाँ क्यों कैसे अनौचित्य आता है?' –यह नहीं सिखाया जाता हमें। बस 'क्या' सोचें? 'क्या' पाप है–क्या पुण्य है? क्या नीति–अनीति है। क्या योग्य–अयोग्य है–यही तैयार परिभाषायें ठूंस-ठूंस कर भर दी जाती हैं। कब–कैसे व्यवहार करना उस के बने–बनाये ढाँचे हम को बतलाये जाते हैं। बस वैसा का वैसा किये जाना –यह रह गया है जीवन। (We have only to approximate our actions to those criterias, norms and patterns. A very secondhand thirdhand life is left to us.)

जो समाजवादी, साम्यवादी देश हैं, उन में organisation से भी आगे standardisation, फिर उस से भी आगे regimentation कर दिया गया है व्यवहार का।

जो आद्य संस्कृति –वैदिक संस्कृति रही–यानी वेद उपनिषदों के द्वारा जो सत्य उद्घोषित हुए, उन पर आधारित जो संस्कृति रही, उस में सब लोगों के आचरण को एक ही ढाँचे में बाँधने की न अभीप्सा थी, न आकांक्षा थी। एकता कहाँ थी? चरम सत्त्व के आकलन में। यानी "ब्रह्म सत्य है। वह एक–अखण्ड–समग्र सत्ता है। सत्ता में ही ज्ञान और आनन्द समाये हुए हैं, वे किसी क्रिया के फल नहीं। 'मैं ब्रह्म हूँ—तुम भी वही हो' 'यह समस्त जगत् ब्रह्म है।" इस विषय में दो राय नहीं, कोई भिन्नता नहीं। वहाँ वैचारिक एकता है। अन्तिम सत्य के बारे में जो दर्शन हैं, दर्शन नहीं तो धारणा है, धारणा नहीं तो श्रद्धा है–वहाँ एकता है। और उस सत्य के साथ हम कैसे सम्बन्धित हों? ब्रह्मभाव को–ब्रह्म से अपने जल–तरङ्ग जैसे सम्बन्ध को — जीयें कैसे? जीवन में उस अद्वैत का अनुबन्ध—अनुसन्धान कैसे रहे? – इस बारे में प्रत्येक व्यक्ति स्वाधीन है। आचरण की स्वाधीनता और अन्तिम सत्य की धारणा में एकता –यह वैदिक संस्कृति का सार रहा।

आज उस के ठीक विपरीत हो रहा है। मूल एकता भुला दी गई और विविध पन्थों को लोगों ने कट्टर पन्थ बना दिया। (Crystallization of different thoughts and ways to approach the ultimate reality–into a rigid formula, methodology) यह गलत हुआ। 'जँतो मँत तँतो पँथ' (जितने मत उतने पथ) कहा था रामकृष्णदेव ने, कि जितने व्यक्ति होंगे उतने ही साधना के पथ होंगे। क्योंकि व्यक्ति के भीतर उसका साधना का पथ बनता है। एक व्यक्ति के पथ पर दूसरे लोग चलें –यह जब आग्रह रखा जाता है तब पथ में से पन्थ बनता है, सम्प्रदाय बनता है और फिर एक अनर्थकारी परम्परा शुरू हो जाती है। लेकिन पथ तो जितने व्यक्ति है उतने बनने ही वाले हैं। कोई मन्दिर में बैठ कर विग्रह की उपासना कर रहा है। कोई घर को ही मन्दिर बना कर भजन–कीर्तन कर रहा हैं: मस्त हो कर हरिनाम गा रहा है। कोई एकान्त में बैठ कर जप करता है। कोई हठयोग की साधना कर रहा है। कोई तन्त्रमार्ग से चल रहा है, उस में भी फिर दक्षिण और वाम दो प्रकार की तन्त्रपद्धतियाँ हैं, वैष्णवतन्त्र, शैवतन्त्र शाक्ततन्त्र हैं। पद्धतियां ही पद्धतियाँ है। हमारी विरासत में अध्यात्म के नाम से या वैचारिक एकता के नाम से कभी 'स्टीम रोलर' चलाना हुआ नहीं।

ऐसा है तो फिर सामुदायिक चित्त और सामुदायिक साधना–इन शब्दों का क्या प्रयोजन है? महर्षि अरविन्द जो सामुदायिक साधना करते थे, विनोबाजी ने

जो ब्रह्मविद्या की आराधना और सामुदायिक मुक्ति की बात कही, उस के बारे में क्या होगा ?... मेरा कोई दावा नहीं है कि मैं श्री अरविन्द को या विनोबाजी को शतप्रतिशत समझ सकी हूँ । अपने आप को भी १००% नहीं समझ पायी हूँ तो महात्माओं, सन्तों की बात कैसे कर सकती हूँ ? लेकिन जितनी कुछ बात समझ में आयी है (वह भी विनोबाजी की) उतनी कहूँगी । श्री अरविन्द को प्रत्यक्ष मैंने देखा नहीं है, उनके ग्रन्थ जरूर पढ़े हैं । विनोबाजी को देखा है, उन के साथ थोड़ा सा काम भी किया है । ग्रन्थादि देखने का भी कुछ मौका मिला है । वहाँ जो सामुदायिक साधना की बात है वहाँ यह अभिप्राय दिखता है कि समाज के घटक के नाते हमारा जो कर्म-व्यापार है, वे कर्म ही चित्तशुद्धि, जीवनशुद्धि और आत्मसाक्षात्कार की साधना बन जाने चाहियें ।

शायद गांधीजी से यह रहस्य उन को मिला हो । 'इस देश में समग्र क्रान्ति हो' यह विनोबाजी चाहते थे, और 'हिमालय में जा कर आत्मसाक्षात्कार की, प्रभुप्राप्ति की साधना करूँ'–यह भी चाहते थे । उनके ही कहने के अनुसार १९१६ में जब बनारस हिन्दू-विश्वविद्यालय में उन्हों ने महात्मा गांधी की बात सुनी तो वे कहने लगे कि **"बङ्गाल की क्रान्ति और हिमालय की शान्ति —दोनों का सङ्गम मैंने बापू के व्यक्तित्व में पाया,** इसलिये हिमालय या बङ्गाल जाने के बदले पश्चिम की ओर मुड़कर साबरमती पहुँच गया ।'

यह जो सामुदायिक साधना है, वह सत्य को और अहिंसा को, काया-वाचा मनसा सभी सामाजिक व्यवहारों में उतारने की साधना है । जीवन की अन्तिम एकता का साक्षात्कार जो जीवन हम जी रहे हैं—सुबह से रात तक, उन कर्मों के द्वारा, उस जीवन के द्वारा होगा । मैंने कहा था कि वैज्ञानिक अध्यात्म के प्रखर प्रवक्ता थे **महात्मा गांधी** । उन्होंने अध्यात्म शब्द का प्रयोग किया हो या न किया हो, **उनका जीवन मुखरित अध्यात्म है** । उन्होंने कहा कि जीवन की एकता पर श्रद्धा हो तो सत्य-अहिंसा स्वयं ही जीवनमूल्य बन जायेंगे क्योंकि यदि वह सत्ता सर्व में व्याप्त है तो कैसे किसी से झूठ बोला जा सकेगा ? कैसे करेंगे किसी से ईर्ष्या-द्वेष-क्रोध ? कैसे होगी हिंसा ? इसलिये अहिंसक-समाज बनाना है, जहाँ कतई शोषण न हो और शासन न्यूनतम रहे । शासनमुक्ति की बात भी कही जा सकती है । क्योंकि जैसे-जैसे आत्मानुशासन बढ़ता जायेगा, वैसे-वैसे प्रशासन की आवश्यकता घटती चली जावेगी, उसे तोड़ना नहीं पड़ेगा । उसको घटाने के लिये कोई पृथक् भगीरथ प्रयत्न नहीं करने पड़ेंगे । आत्मानुशासित व्यक्ति **और ग्रामानुशासित प्रजा** । इन दो महामंत्रों को यदि पकड़

लेते हैं तो फिर प्रशासन अपने आप क्षीण होता जायेगा। जिसका प्रयोजन नहीं रहता वह वस्तु अपने आप झड़ जाती है, यह वैश्विक जीवन का कुछ कानून ही लगता है।

गांधीजी के कहने का अभिप्राय है कि सामुदायिक चित्त का निर्माण जिस सामुदायिक साधना से होगा, वह और कुछ नहीं—सत्य अहिंसा के आधार पर समाज की रचना, जीवन शोषणमुक्त हो सके ऐसा अर्थतन्त्र बनाना, व्यक्तियों में आत्मानुशासन की शक्ति जगा कर आज जो प्रशासन की ओर नजर है, जो प्रशासन की आवश्यकता प्रतीत होती है — उस नजर और आवश्यकता को हटा देना—यही सामुदायिक साधना है। फिर क्यों देने पड़ेंगे टैक्स रेवेन्यू ? उनका केन्द्रीकरण क्यों होगा ? गाँव अपने रेवेन्यू का अपनी जरूरतों के लिये खर्च कर सकेगा। एक न्यूनतम इकाई बची रहेगी व्यापक देशों में—प्रजासत्ताक गाँवों के परस्पर सम्बन्धों के संरक्षण के लिये। उस व्यवस्थात्मक प्रशासन का खर्चा न्यूनतम होगा। ··· ऐसी समाजरचना, अर्थतन्त्र और शासनव्यवस्था में से सामुदायिक चित्त बनेगा।

इसके अलावा, सामुदायिक चित्त बनाने के स्थान हैं—विद्यालय और विश्व विद्यालय। आज तो वहाँ विध्वंस चलता है, निर्माण नहीं होता। न व्यक्तिगत चित्त बनता है, न सामुदायिक, बल्कि स्वकेन्द्रित चित्त बनता है। 'स्व' के खूंटे से ऐसा जकड़ा हुआ दीन-हीन चित्त बनता है कि देखा नहीं जाता। अपने लहू के आँसू पी कर रह जाना पड़ता है विद्यालयों—विश्वविद्यालयों की दशा देख कर।···विद्यालय ही तो स्थान हैं शुभ-संस्कार-सिञ्चन करके चित्त का निर्माण करने के। केवल सामुदायिक नहीं, हर व्यक्ति में ऐसा चित्त हो कि अपने प्राणों में जो सत्यं-शिवं सुन्दरम् की अभीप्सा है उसको पूरी करने के लिये निर्भय होकर व्यवहार कर सके। शुभ की ओर, स्वाधीनता की ओर चित्त जाये, सुरक्षा-सुविधा के लिये स्वाधीनता के टुकड़े तोड़-तोड़ कर बेचने वाला चित्त न हो। स्वाधीनता को परम मूल्य मानने वाला मनुष्य बने। इसके लिये विद्यालयों में यदि सत्य-प्रेम-करुणा-रूपी मूल्यों को चित्त में जागृत किया जाता है तो उसी में से आत्मानुशासित व्यक्ति निष्पन्न हो जायेगा।

दूसरी बात, मनुष्य अपनी देह-मन-बुद्धि की गरिमा को देख-समझ पाये। वस्तुतः यहाँ अपवित्र जड़, तुच्छ कुछ है ही नहीं। जब विश्वाधार ही विश्वाकार बने हैं, चिन्मय सत्ता ही जगदाकार हुई है तो यहाँ कुछ भी अशुचि—अशुद्ध आयेगा कहाँ से ? तो, इस विश्व के प्रति मङ्गलमयी भावना जागृत हो सके—ऐसा चित्त बनाना है। देह-मन के प्रति गौरव का भाव हो। आपको लगेगा कि 'यह क्या

कह रही हैं ? शरीर के प्रति गौरव ?'...हाँ, जरूर ! यह मनुष्य देह तो अनन्त का सान्त विग्रह है। इसको मङ्गल न कहूँ तो मङ्गल को खोजने कहाँ जाऊँ ? भोगी व्यक्ति को शरीर की गरिमा का भान नहीं है। त्यागी को भी नहीं है। त्यागी शरीर-मन को कुचलना चाहता है। अपने आदर्शों के लिये शरीर पर अन्याय, अत्याचार, दमन, पीडन करता है। मन की कोमल भावनाओं को कुचल देता है। चाहे देश के लिये, चाहे धर्म-अध्यात्म के नाम से। उनकी चेतना पर खरोंचें पड़ी होती हैं अन्याय-अत्याचार-दमन की। प्रभु की निर्माण की हुई एक सुन्दर आकृति को बिगाड़ते हैं, दूसरों को बनाने के नाम से। और भोगी शरीर की हिंसा करता है, बुद्धि से द्रोह करता है सुखभोग के लिये। जिस इन्द्रिय से जिस विषय का सुख लेना हो उस क्षणिक सुख के लिये वह उस इन्द्रिय पर अत्याचार करता है, सुख के पुनरावर्तन के लिये शरीर को होम देता है। 'कामा न भुङ्क्ता वयमेव भुङ्क्ताः' 'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति'...'काम' शब्द से केवल नर-नारी-संबंध का अभिप्राय नहीं, सभी कामनाओं (यश-प्रतिष्ठा कामना तक) की ओर सङ्केत है। प्रभु के विग्रहरूप मनुष्य-शरीर का समादर भोगी के वश की बात नहीं, त्यागी के वश को भी नहीं। जीवन जीना रसिकों का काम है। तो भोग की ओर नहीं मुड़ेंगे, त्याग की ओर भी नहीं मुड़ेंगे, ऐसे बीच के बिन्दु पर स्थिर हो जायें। आवश्यकताओं की पूर्ति सुन्दरता-कोमलता वैज्ञानिकता से करेंगे। अनावश्यक परिग्रह करता है भोगी और अनावश्यक दमन करता है त्यागी।...शरीर-गौरव में यह सब समाविष्ट है।

वैज्ञानिक अध्यात्म में शरीर के साथ अन्याय नहीं हो सकता। दमन, निषेध, खण्डन की बात नहीं हो सकती। जो कुछ है उसको समग्रता से जोड़ना, समग्रता के अनुबन्ध में जीना। **विशिष्ट** (Particular) **जब समग्रता** (wholeness) **के साथ जुड़ जाता है, तब वह बन्धन नहीं, मुक्तिदायक बनता है**। जब विशिष्ट को समग्र से अलग कर लेते हैं और उसी के पीछे पागल हो जाते हैं, जहाँ हम समग्र से टूट जाते हैं–Isolated into the particular, the obsession of the particular at the cost of tolality—यह जहाँ हो जाता है, वहाँ गड़बड़ है, अनर्थ हैं, वहीं जिसे आप 'पाप' कहते हैं, वह होता है। The wholeness is holiness **समग्रता ही पवित्रता है**। समग्रता के सन्दर्भ में पाप-पुण्य नीति-अनीति की भाषा बिल्कुल असङ्गत हो जाती है। "निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः !"

पहले दिन मैंने कहा था मनुष्य जीवन का लक्ष्य है–'योगी भव!' अन्दर चित्त में समता हो, अक्षुब्ध-अक्षोभ्य अवस्था हो और बाहर इन्द्रियों के व्यवहार में संतुलन हो। यह आशय है 'योगी' का। आत्मा का आह्लाद अन्तःसाम्य और बाहरी संतुलन में ही प्रकट व्यक्त होता है। जीवन-जीने के कर्म में वैज्ञानिक पद्धति लायी जाती है तो ये संयम और संतुलन अपने-आप आ जाते हैं।

यह विद्यालयों में सिखाया जा सकता है। तथा परिश्रम का महत्त्व, शक्ति का निरन्तर खर्च होकर ताजी बनते रहना—'यह परिश्रम का गौरव—सिखाया जा सकता है। 'नई तालीम' नाम से गांधीजी ने शिक्षा के लिये जो एक क्रान्तिकारी दृष्टिकोण रखा था, परिश्रम के आधार पर एक-दूसरे के साथ सहजीवन का जो मन्त्र सिखाया था, उसको लाना पड़ेगा। ऐसे विद्यालयों में से स्वस्थ चित्त बनेगा। वह अहिंसक-समाजरचना के लिये अनुकूल अर्थनीति, राज्य-व्यवस्था बना सकेगा। तब कहीं सत्य की या मुक्ति की सामुदायिक साधना हो सकेगी —ऐसा मुझे लगता है।

दूसरी बात उठाई गई थी spirituality तथा spiritualism में क्या अंतर है? कहा गया था कि विनोबाजी ने इस बारे में कुछ लिखा है। पर वह मेरे पढ़ने में नहीं आया है। मुझे तो ये शब्द जो अर्थ बतलाते हैं उतना ही कहूँगी। विनोबाजी तो पण्डित व्यक्ति थे, विद्वान् साधक थे। उन्हें जो अर्थ प्रतीत हुआ होगा वह उन्होंने कहा होगा। किंतु अध्यात्म में अंतिम शब्द अभी तक कहा नहीं गया है, न कभी कहा जायेगा। जैसे क्रांति के विज्ञान और कला में कोई अन्तिम शब्द या अंतिम प्रामाण्य नहीं होता है। मानव जाति के भावी इतिहास को अपनी अनुभूतियों में बाँधने का साहस या दुःसाहस कोई सुविचारी व्यक्ति कभी नहीं करेगा।

मुझे ऐसा लगता है कि जो अव्यक्त अतीन्द्रिय सृष्टि है, उसके साथ व्यवहार का सम्बन्ध spiritualism शब्द में है। जो जीवन व्यक्त है उसका अङ्ग हैं नाम-रूपात्मक पदार्थ। अव्यक्त हैं पदार्थों में समाई हुई शक्तियाँ। पदार्थों में ही नहीं, पञ्चमहाभूतों में ही नहीं, उससे आगे जो सूक्ष्म पञ्चतन्मात्रायें है उनमें जो शक्तियाँ समायी हैं, वे सब अव्यक्त और अतीन्द्रिय हैं। इस अतीन्द्रिय जगत् का भान आधुनिक मनुष्य को कराया डॉ. ऑल्कॉट और मैडम ब्लॅवॅट्स्की ने। बड़ी बुलंद महिला पैदा हुई रूस में। जिनका बहुत कुछ जीवन आगे चल कर अमेरिका में बीता और १८७०-७१ में उन्होंने ब्रह्मविद्या-समाज–अखिलविश्व-भ्रातृ समाज बनाया। उनका अतीन्द्रिय जगत् में भलीभाँति प्रवेश था। अतीन्द्रिय जगत् में जैसे पञ्चमहाभूतों की और तन्मात्राओं की शक्ति होती है, वैसे

और भी शक्तियाँ तथा ऊर्जायें हैं। उनमें से कुछ को प्रेतयोनि की शक्ति के नाम से पहचाना जाता है।

स्थूल व्यक्त शरीर का भले ही मृत्यु नाम से रूपान्तर होता हो, पर विचार के मृत्यु नहीं है। विचार मरता नहीं। वासना मरती नहीं। कभी देखिये अपने भीतर उठते हुए विचार को। उसका मूल स्पन्दन शरीर में कहाँ उठता है? नाभि में से उठता हो तो वह संवेदन श्वास के साथ ऊपर कैसे चढ़ता है? चढ़ते चढ़ते उस विचार को नाद कहाँ मिलता है? नाद में से शब्द कहाँ प्रस्फुटित होता है? वह आगे चलकर कण्ठ में से जिह्वा और होठों तक कैसे पहुँचता है? वैखरी में उसका स्फोट कैसे होता है? मान लीजिये उस विचार को आपने बोल कर व्यक्त नहीं किया, अनबोला रह गया आपका विचार। लेकिन भीतर उसने नाद को भी धारण कर लिया है, अर्थ को भी धारण किया है। शब्दाकार बना, लेकिन स्फोट नहीं हुआ। वाणी में से बाहर नहीं आया। तो क्या आप समझते हैं कि वह भीतर हाड़मांस के एकान्त में रह गया? नहीं। विचार जो है वह आपके शरीर में जो कुछ पार्थिव तत्त्व हैं उनमें चलने वाली एक ऊर्जा है, सूक्ष्म द्रव्य ही है। अतः आप बोले भले न हों, पर भीतर जन्मी हुई विचार-ऊर्जा हाड़-मांस के घेरे में से निकल कर वातावरण में फैल जायेगी—स्पन्दन के रूप में। एक ही विचार-विकार बार-बार मन में उठता हो तो आपके आसपास, वातावरण में, अन्तरिक्ष में वह घूमता रहेगा। इन स्पन्दनों के आकार-रंग-रस-गंध देखने वाले अनेकों व्यक्ति हुए हैं। उसके लिये "Man the unknown" लिखने वाले Alexis carrel की ही जरूरत नहीं है।

मुझे इसका बोध हुआ ज्ञानेश्वरी ग्रन्थ से, (जब शरीर की आयु सात वर्ष की थी) कि शब्दों के भी रूप-रस-गन्ध होते हैं। फिर एक बार १९५९ में श्री जे. कृष्णमूर्तिजी के साथ बात हो रही थी तो उन्होंने कहा कि New york में इस बार एक बड़े मजे की घटना देखी। जहां गाड़ियाँ खड़ी करते हैं—वहां जो Parking plot है, वहाँ से सब मोटरें निकल गई थीं। उसके बाद भी उनकी आकृतियाँ अवकाश (space) में बनी हुई थीं, दिखाई दे रही थीं। ऐसे ही जो शब्द बोले जाते हैं या चित्त में उठते हैं, उनकी आकृतियाँ भी अन्तरिक्ष में रह जाती हैं।...मैंने कहा 'जी, बचपन से इस चीज़ को पढ़ने का मौका आया था, आज आपके मुख से वही बात सुनी जिनका अध्यात्म विज्ञानाधारित है।'

आज तो 'विज्ञान पर आधारित' के बदले एक नया शब्द श्र० मिश्रजी ने हमें दे दिया—'अध्यात्म और विज्ञान का केवल समन्वय नहीं, मेल-मिलाप नहीं।

विज्ञान पर आरूढ़ अध्यात्म !'—मेरा रोम-रोम नाच उठा खुशी से ! यह शब्द रचना मुझे मिल नहीं रही थी । जो कहना चाहती थी उसे वहन करने वाला वाक्प्रयोग मिल गया । खैर, रुकना नहीं है यहां ।···ऐसे जो विचार भीतर पैदा होते हैं, उनके स्पन्दन आस-पास घूमते रहते हैं, शरीर नष्ट हो जाने पर भी वे स्पन्दन तैरते रहते हैं।···

अभी १९८३ में श्री जे. कृष्णमूर्ति के जीवन-विषय में जो पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, उसे देखें । उसमें कृष्णजी को पूछा गया है—आप कौन है ? आप क्या हैं ? पहले वे जवाब देते हैं 'मैं नहीं जानता ।' फिर पूछा जाता है कि 'क्या आपको प्रतीत होता है कि कोई अतिमानस उच्च शक्तियाँ एक वाहन या माध्यम के रूप में आपका उपयोग कर रही हैं ?' इस पर वे कहते हैं कि 'मैं इन्कार नहीं कर सकता ।' "It is wrong to crystallize them & identify them as persons" (किसी विशिष्ट व्यक्ति के साथ उस शक्ति का तादात्म्य जोड़ना उचित नहीं समझता ।) लेकिन कोई उच्च शक्तियाँ हैं जो हमारा उपयोग करती हैं । कब ? जब हम किसी गम्भीर चर्चा में हों या प्रवचन के लिये खड़े हों ।

प्रश्न—'यह कब से हो रहा है ?' कहा-'शायद १९२२ से । यही बात उनके अन्य लोग कहते थे ।

उसका इन्कार करके वे १९६० में ब्रह्मविद्या समाज (थियॉसॉफ़िकल सोसाइटी) में से निकल गए थे । अब आयु की परिपक्व अवस्था में वे स्वीकार कर रहे हैं । यहाँ तक कि 'मृत्यु से संवाद' नाम के प्रकरण में उन्होंने आपबीती एक घटना लिखाई हैं । कुछ वर्ष पहले उनके शरीर पर एक शस्त्रक्रिया (operation) हुई थी, अमेरिका के दवाखाने में थे । ऑपरेशन के बाद जब उन्हें वापस उनके कमरे में लाया गया तब की घटना है ।—"मेरे कमरे में मृत्यु ने प्रवेश किया । यह विभ्रम (hallucination) या प्रक्षेपण नहीं था । उसके बाद 'super power' आई । (यह एक ही शब्द उस उच्च शक्ति के लिये वे प्रयोग करते हैं)—मेरे शरीर का संरक्षण करने वाले दो देवदूत भी चले आये । उनका संवाद चल रहा था । मृत्यु शरीर को ले जाना चाहती थी । 'super power' ने कहा 'अभी काम पूरा नहीं हुआ है । इसलिये अभी आप नहीं ले जा सकते हैं ।" ···फिर लिखवाया हैं कि 'मेरा शरीर रह गया है, शायद और तीन-चार वर्ष रह जाय । जब उनका काम पूरा होगा तभी यह शरीर मर सकेगा ।'···

इसे spiritualism कहना हो या न कहना हो, लेकिन एक अतीन्द्रिय सृष्टि है । जिन साधकों की साधना अधूरी रह गई हो वे भी इस सृष्टि में तैरते होंगे

स्पन्दनात्मिका काया से। जिनकी वासनायें शेष रहीं वे भी उसी के किसी अंतर्विभाग में रहते होंगे। उनके साथ सम्पर्क स्थापित करने की, उनसे संवाद करने की शास्त्रोक्त युक्तियाँ, विधान आदि हैं, और उनका उपयोग करने वाले लोग भी होंगे। वह मेरा क्षेत्र नहीं है। अतीन्द्रिय, अव्यक्त के परे जो अनन्त है उसने मेरा चित्त चुरा लिया शैशव से ही। अतः व्यक्त-अव्यक्त-इनकी अतीन्द्रिय शक्तियाँ और वहाँ पर स्थापित होने वाले सम्बन्ध, व्यवहार सब अलग रह गये। लेकिन वह भी एक विज्ञान है। मैडम ब्लॅवेडस्की, डॉ. ॲल्कॉट की पुस्तकें पढ़ें chemistry of Death पर लेट विटेन ने जो लिखा है वह देखें, कृष्णजी की Years of fulfilment—पुस्तक देखें तो अतीन्द्रिय जगत् और उसके साथ संपर्क स्थापित होने को केवल कपोल-कल्पना नहीं मानेंगे।

गम्भीर विषय है। उसमें कुछ विकृतियाँ आ गई हैं क्योंकि स्थूल में व्यापार करने वालों ने अव्यक्त सृष्टि को भी व्यापार का विषय बना लिया है, इसलिये उसके विषय में थोड़ी वितृष्णा पैदा होना स्वाभाविक है। मुझे इतना ही कहना है कि अध्यात्म में इन सब का समावेश है—व्यक्त—ऐन्द्रिय जगत्, अव्यक्त-अतीन्द्रिय जगत्, और इनसे परे अनन्त चरम सत्ता। लेकिन जैसे आप-हम यदि spaceship या रॉकेट बनाने वाले से कहें कि 'उसकी रचना और गतिविधि सब हमें समझाओ'—तो वह नहीं समझा सकेगा, वैसे ही रात-दिन देहभाव में जिन्हें रहना होता है वे इन विषयों में न पड़ें तो अच्छा है। हाँ, देहमात्र में हम सीमित नहीं—यह बोध जागा हो और अपने सच्चे स्वरूप को जानने-जीने की तमन्ना हो, इसीलिये अध्यात्म की बात सुनना और साधना करना चाहते हों तो वे क्या करें—यह एक अंतिम मुद्दा आपके सामने रखना है।

'अथातो आत्मजिज्ञासा'—जिज्ञासा जगदम्बा है। उसने एक बार यदि हृदय में प्रवेश कर लिया तो बेचैन बना देगी। हमारे यहाँ एक मुसलमान फकीर आया करते थे। वे कहते-'बिटिया ! यह बेचैनी खुदा किसी-किसी को बख्शता है, सब को नहीं। यह बेचैनी, यह तड़पन, ये आँसू सबको नहीं मिलते।' संसार में सब अनुकूलता है, सब सुख-सुविधा है, फिर भी मन तड़पता है कि क्या है इस व्यक्त पड़दे के पीछे? कौन वह अनन्त है? कहां है? कैसा है? उसे देखूं तो सही।—ऐसी तड़पन रहती है। पहले जिज्ञासा यानी जानने का इच्छा, फिर उससे मिलने की इच्छा। यह तड़पन पैदा हुई हो तो आप आरोहण की यात्रा के पथिक बन गये। हृदय में जिज्ञासा का जागृत होना बहुत बड़ा वरदान है। यही आपके हृदय में प्रभु के आने की आहट है, पदचाप हैं उनके। तभी तो तड़पन जगाई है कि 'देख ! मैं कहां हूं? ढूंढ़ निकाल मुझे?' व्यक्त-अव्यक्त के पीछे छिपकर आंखमिचौनी खेलते हैं वे।

यह जिज्ञासा जागने पर संसारी व्यक्ति सत्सङ्गी बन जाता है। मंगल अभियान प्रारम्भ हुआ। वह घर में है, अपने और परिवार के निर्वाह की व्यवस्था करता है, सबके साथ रहता है। लेकिन अन्दर जो बेचैनी है, उसके कारण सत्संग के स्थान खोजेगा कि कहाँ सन्त मिलेंगे ?···[हम छोटे थे तब पिताजी कहते कि 'तुम्हारे लक्षण नहीं हैं संसार करने के। अच्छा, जहाँ चाहो सत्संग में जाओ बस एक वचन हमें दे दो कि तुम किसी को गुरू नहीं बनाओगी। गुरू तो परमात्मा है, और वह तुम्हारे भीतर है, तुमको जब जहाँ, जिस मार्गदर्शन की जरूरत पड़ेगी, प्रभु वहां तुम्हें पहुँचा देंगे।'···ऐसा कोई आश्रम नहीं रहा होगा जहां १६ वर्ष की आयु से पहले मैं न गई होऊँ। स्कल की छुट्टियाँ हुईं कि निकल पड़ती। पिताजी किसी न किसी को साथ कर देते।–निर्वाणी पन्थ का अखाड़ा हो या बैरागी साधुओं का डेरा हो, राधास्वामी पन्थ के मठ हों या वैष्णव हों, शैव हों, कोई भी हों। सब जगह जाती। पिताजी कहते कि 'देखना-सुनना -समझना सबको, लेकिन तुम कहीं बाहर समर्पित न होना—Commitment नहीं करना।'···वचन दिया था मैंने, और ५ से १५ वर्ष की उम्र तक घूमे–भटके सब साधु-सन्तों के पास।]···

तो, जिज्ञासा उत्पन्न होने के बाद संसारी बन गया सत्सङ्गी। **'सत्सङ्गत्वे निःसङ्गत्वम्, निःसंगत्वे निर्मलतत्त्वम्'**—सत्सङ्ग करने से क्रमशः निःसंगता आती है, फिर शरीर के सब तत्त्व निर्मल होते चले जाते हैं। क्योंकि संतों के पास जाकर बैठेंगे तो अहङ्कार की बात तो सुनने को नहीं मिलेगी। द्वेष-क्रोध-ईर्ष्या निन्दा की बातें नहीं होंगी। शुद्ध शब्द सुनने को मिलेंगे। आत्मानुभवी का शब्द अमोघ बाण जैसा काम करता है।

'कहे कबीर सोई नर जागा। शब्द बाण उर अंतर लागा।' जो सच्चा सत्सङ्गी और जिज्ञासु होगा—उसके दिल में आत्मानुभवी के शब्द सीधे तीर जैसे घुस जाते हैं, हृदय में बिंध जाते हैं। किसके नसीब में है इस प्रकार लहू-लुहान होना। ऐसा बिंध जाना।···

सत्सङ्ग में बारम्बार आत्मा-सम्बन्धी बात सुनने से इच्छा जागती है कि इनके जीवन में जो घटित हुआ वह हमारे जीवन में भी उपलब्ध हो जाय। अब वह साधक बनने के लिये प्रयत्नशील होता है। याने क्या करता है ?–सुबह से रात तक के समस्त कर्म–व्यापार को अपनी साधना के साथ जोड़ता है। साधना के नाम से अलग कोई पसारा नहीं खड़ा करता है। अलग परिस्थितियों की नर्सरी नहीं रचता। वह कहता है कि 'ये जो संबन्ध हैं ये ही मुक्तिदायक कैसे बनें ? ये कठिनाइयां, चुनौतियाँ, भी तो अवसर हैं साधना के !' यों जो भी

सामने आता है उसे वह साधना के अवसर बनाता हुआ वैसा उनका विनियोग करता है। **जिज्ञासा का सम्बन्ध प्रत्येक कायिक-वाचिक-मानसिक सम्बन्ध से जोड़ना ही साधक बनना है।**

यहां तक तो हुआ पुरुषार्थ ! इसके आगे ? अब आगे बड़ी अनोखी और आनन्द की बात है। मनुष्य की शक्ति साधना के लिये कभी पूरी नहीं पड़ती समर्थ से समर्थ व्यक्ति क्यों न हो ? शक्ति की मर्यादा होती है। शरीर-मन-बुद्धि सबकी मर्यादा है। ये मर्यादायें हमारे आभूषण हैं, अलङ्कार हैं, जिनसे हम मनुष्य बने हुए हैं।···साधना करने चलते हैं तो शक्ति कम पड़ती है। पर जहाँ सचमुच ये शक्तियाँ कम पड़ने लगती हैं वहाँ उस कमी को पूरा करने वाले जो आत्मानुभवी होंगे, वे साधक की उत्कटता के कारण, बेचैनी के कारण आकर्षित होते हैं 'The magnetism of the vibrating flame of inquiry burning in the heart, charges the whole atmosphere. आत्मानुभवी के पास ही चुम्बकीय आकर्षण होता है—ऐसा नहीं, जिज्ञासु के आसपास, साधकों के आसपास भी आकर्षण होता है। जितनी बात समझ में आयी, जीता चला गया। जीने के कर्म से और समझने की शक्ति पनपी, तथा समझने से जीने का कर्म समृद्ध होता गया। इसी क्रम से वह आगे बढ़ता जाता है। फिर जहाँ कम पड़ती है शक्ति वहाँ जीवन-परमगुरू-सदाशिव आत्मानुभवियों को और साधक को मिला देता है। यह जीवनविभु की जिम्मेवारी है। हमारे प्रयत्नों से गुरू नहीं मिला करते। अपनी इच्छा, वासना, शर्त के अनुसार यदि खोजने जायेंगे, गुरू बनाने जायेंगे तो अपने नाप का खोजेंगे, और जो मिलेगा उसे अपने नाप का बना लेंगे। ऐसे नहीं होता है रे मिलन ! गुरू का यानी आत्मानुभवी का और साधक का मिलन तो एक दिव्य घटना है। यह मिला देना जीवनविभु प्रभु की जिम्मेवारी है। कभी साधक को ले जायेंगे आत्मानुभवी के पास, तो कभी आत्मानुभवी को साधक के पास पहुँचायेंगे। कहीं घर बैठे होगा, कहीं रास्ते में तो कहीं बीहड़ जङ्गल में। पता नहीं कहाँ होगा वह मिलन, पर होगा सही। और तब जो एक अनजली ज्योति है और दूसरी प्रज्ज्वलित है—उनका मिलन घटित होता है। कभी दृष्टि से काम हो जाय, कभी वाणी से हो जाय, कभी स्पर्श से हो जाय। उपस्थितिदीक्षा भी होती है। अनेक प्रकार की दीक्षायें वर्णित हैं।

यह मिलन अवश्यम्भावी है। प्रामाणिक पुरुषार्थ करता हुआ जो साधक तत्परता से अपनी समझ पर आचरण करता जा रहा है उसे आत्मानुभवी से मिलाना प्रभु की जिम्मेवारी है। ऐसा होता देखा गया है, इतिहास में भी और

वर्तमान में भी । अतः चिन्ता न करे साधक । खोजने न जायें चारों ओर कि कैसे मिलेंगे ? कहाँ मिलेंगे ? बस विरह की व्याकुलता पैदा हो जाय तो वह मिलन की घटना को घटित कर देगी ।

हमारी जिम्मेवारी है अभिमुख बन जाना । जितना कर सकते थे उतना पुरुषार्थ किया । पूरी शक्ति खपा दी उसमें । पुरुषार्थ-मात्र की मर्यादा को पहचान लिया, और प्रभु के शरणागत हो गये। पुरुषार्थ और प्रपत्ति मिल कर जीवन पूरा होता है। समर्पण के सिवा कृतार्थता नहीं है मित्रो ! वह समर्पण है जीवन की अनन्तता के प्रति । वह सदेह रूप में व्यक्त हो जाय, या घटना में व्यक्त हो जाय ! वह मिलन की घड़ी आती है तब जीवन में आमूलाग्र परिवर्तन हो जाता है । फिर न रहा 'मैं', न रहा 'तू' । बस 'वही वह' रह जाते हैं ।

सामान्यजनों के लिये साधना का यही क्रम है । जिसके जो संस्कार और अभिरुचि हों वैसा पथ वह पकड़े । नामस्मरण का पथ भी उतना ही पवित्र है जितना मौन का। मौन का पथ उतना ही स्वतन्त्र है जितना हठयोग या राजयोग का। हमारी विरासत बहुत बड़ी है। पर जो भी पथ लेना है पूरी प्रामाणिकता से उसमें जुट जाँय। कहीं ठोकर खाने लगेंगे तो सम्हालने वाले प्रभु सदा सर्वत्र हाजिर हो ही जायेंगे। शक्ति समाप्त होगी–कम पड़ेगी तो प्रभु हैं ही सम्हालने के लिये ।

'जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिँ ।
प्रेमगली अति सांकरी, ता में द्वै न समाहिँ ॥'

साधना से पहले 'मैं-मैं–मैं' रहता है । साधक दशा में 'तू ही तू' रहता है । और जहाँ साधना सहज स्वभाव बन जाती है वही सिद्धि है, तब न 'मैं' है न 'तू' । तब तो बस जो है सो है ! जीवन की सत्ता–मात्र है। वह जीवन ही फिर उस व्यक्ति का जहाँ जैसा उपयोग करना है, वह कर लेता है ।

और सिद्धि क्या होगी जी ! रसोई बनाते समय माँ-बहनें जैसे सीधा-सामग्री में भरा हुआ जो रस है उसे सिद्ध करती है व्यक्त कराती हैं-वही व्यञ्जन है, रसोई है । वैसे अपने हाड़-मांस में साधना का अग्नि प्रज्ज्वलित करके आत्मरस सिद्ध करते हैं, वही सिद्धि है । वह जीवन का रसशास्त्र (The alchemy of life) है । वह रस सिद्ध हो गया तो फिर न 'मैं' है न 'तू' है । जो कुछ है बस जीवन है ।

यही तो होगी कन्हैया के अधरों पर बिराजने वाली बंसी ! जो अंदर से शून्य हो गई उसी को प्रभु अपने अधरों से बजाते होंगे। 'मैं' शेष रहे और प्रभु 'मुझे' बजायें—यह संभव नहीं ।

···इस प्रकार (spirituality) याने अध्यात्म का सम्बन्ध अनन्त के साथ है। व्यक्त में जीना है, अव्यक्त का स्पर्श आये तो उसे सहन कर लेना है लेकिन दृष्टि रखनी है अव्यक्त के पीछे जो अनन्त खड़ा है, उस पर। जैसे ध्रुव पर नजर रखते हैं। न व्यक्त रुकने लायक स्थान है, न अव्यक्त ठहरने लायक है। दोनों में अटकने या भटकने से जीवन कृतार्थ नहीं है। 'अहं' के बिन्दु से जीवन का प्रारम्भ हुआ है। 'सर्व' के बिन्दु पर यदि मृत्यु से पहले चेतना पहुँच जाय, और 'सर्व' को धारण कर सके इन्द्रियों के स्तर तक तो मनुष्य कृतार्थ हो जाता है। 'तस्माद् योगी भवार्जुन।' 'मामनुस्मर युद्धय च'। 'युद्धयस्व विगत ज्वरः'—ये आदर्श हैं मनुष्यजीवन के। 'रागद्वेष के ज्वर से मुक्त होकर, सतत जीवन की समग्र एकता का अनुसंधान (प्रभु का स्मरण) रखते हुए, कुशलता और सौन्दर्यपूर्वक, अन्तःसाम्य और बाह्य सन्तुलन सम्हालते हुए कर्म करना—इसी में मनुष्यजीवन की सार्थकता है।

आत्मा का स्वभाव 'मस्ती' 'नशा' नहीं है। अध्यात्म-पथ में चले तो 'बालोन्मत्तपिशाचवत्' विहरना मनुष्य के लिये जरूरी नहीं है, बल्कि वहाँ अध्यात्म रहता नहीं। जिस नव-मानव-निर्माण पर बाबूजी ने जोर दिया और संकेत कर दिया कि अध्यात्म नवमानवसर्जन के लिये है, वह नवमानव होगा सन्तुलित, वह अभय होगा। सन्तुलन का प्रसाद व आह्लाद समाजरचना, अर्थतन्त्र और शासनव्यवस्था में व्यक्त होता चला जायेगा। ऐसे शोषणमुक्त, प्रशासनभार से मुक्त और आत्मानुशासन के शृङ्गार से सुसज्जित—मानवीय समाज को देखने का सपना अनेक प्रबुद्धों के हृदय में सञ्चार कर रहा है, आँखों में तैर रहा है—यह मानवजाति का सौभाग्य है।

प्रश्नोत्तरी

२४/२/८४ अपराह्न ४ बजे

प्रश्न–धनहीन, गरीब आदमी क्या अध्यात्म-साधना कर सकते हैं? यदि चाहें तो क्या करें?

उत्तर–भाई! धन का और अध्यात्म–साधना का तो कोई नियत सम्बन्ध है नहीं। किसने कहा कि ग़रीब आदमी साधना नहीं कर सकता। बल्कि इतिहास साक्षी है कि दुनिया की नज़र में जो ग़रीब रहे वे ही अधिकतर उच्चतम कोटि के साधक होते आये हैं। जाना नहीं है ग्रन्थों और परम्पराओं में, लेकिन श्रीमद्भागवत की प्रसिद्ध उक्ति भी है कि भगवान् जिस पर कृपा करते हैं उस की धन–सम्पत्ति, भौतिक सुख–साधन पहले हर लेते हैं।अनुकूलता की जंजीरे तोड़ देते हैं।...

[दूर कहाँ जाना। प्रत्यक्ष अनुभव है मेरा अपना। मध्यम वर्ग के गृहस्थ ब्राह्मण–परिवार की बेटी; पूरे सत्यनिष्ठ पिता–माता। स्वावलम्बी जीवन। भौतिक–समृद्धि का अवकाश ही नहीं। १४ वर्ष की हुई, मैट्रिक परीक्षा दे दी। तब स्वाभाविक था कि घर के बुजुर्ग लोग– माँ, नानी, दादी–सब चाहते कि बस लड़की के लिये उपयोगी पढ़ाई पूरी हुई, अब विवाह हो। और हमने तो बचपन से ही दूसरा मार्ग पकड़ लिया था। तो वे लोग कहने लगे कि तुम्हें आगे पढ़ाये भी फिर विवाह पर भी खर्च करें इतना कैसे होगा? तब हमने कहा कि 'गृहस्थाश्रम तो हमारा रास्ता है नहीं, लेकिन आज से, शिक्षा–दीक्षा के लिये घर से हम एक पाई भी ग्रहण नहीं करेंगे।' बस १४ वर्ष की आयु के बाद घोर परिश्रम किया। कॉलेज में पढ़ने जाती। पुस्तकें खरीदने का भी पैसा नहीं था। सुबह–शाम ट्यूशनें करती। उसी पैसे से कॉलेज की फीस–काग़ज–स्याही आदि तथा दिन में एक बार भोजन के लिये व्यवस्था होती। महाविद्यालय के पुस्तकालय में बैठ कर पुस्तकों पर से लेख (notes) बना लेती। सुबह ६ बजे रसोई बनाकर चली जाती ट्यूशन करने, वहाँ से विद्यालय, फिर पुस्तकालय, वहाँ से पुनः ट्यूशन करने जाती। सब करते–करते शाम के सात बजे लौटती। तब भोजन होता। फिर अपना जो प्रार्थना-ध्यानादि का क्रम होता वह चलता। कोई साधन नहीं था हमारे पास।]

...हरि का नाम लेने की सुविधा तो है सब के पास! उस के लिये तो कोई साधन या पैसा नहीं चाहिये। कुछ योगासन कर लिये, प्राणायाम कर

लिया, भजन गाये, प्रार्थना की, हरिनाम जपा, शान्ति से मौन में बैठे–इस में तो कोई धन की आवश्यकता नहीं है। यहाँ कहाँ आड़े आती है गरीबी ?

अतः जब कोई मुझ से पूछे कि अर्थाभाव है, साधनहीन हैं, तो कैसे साधना करें ? —तब यही कहना पड़ता है कि साधना के लिये क्या कोई महल चाहिये ? विशाल मन्दिर चाहिये ? ऐसा तो नहीं है। हाँ महलों में भी साधना हो सकती है – मीरा जैसी। लेकिन झोपड़ी हो तो वहाँ भी साधना में कोई बाधा नहीं।... नरेन्द्रदत्त नाम का युवक ! जो बाद में स्वामी विवेकानन्द बना, उसके पास क्या था भाई ! एक-आध जोड़ कपड़ा मुश्किल से था। पिता की मृत्यु के बाद गरीबी ही गरीबी थी। खाने–पीने का कष्ट। मोटा चावल भी मिलना मुश्किल था। उन के रास्ते में यह अर्थाभाव विघ्न तो नहीं बना। ...ऐसे ही पञ्जाब में तीर्थराम गोसाईं—जो स्वामी रामतीर्थ बने, उन 'राम बादशाह' की गरीबी का आप को पता है ? एक ही जोड़ कपड़ा। रात में धो कर सुखा देते, सुबह वही पहन कर कॉलेज जाते। इधर भारी पढ़ाई, उधर प्रखर साधना करते रहते ।...

इसलिये ऐसा कोई भ्रम न रखें कि साधना के लिये गरीबी बाधक है। बल्कि अर्थसम्पन्नता में तो प्रभुप्राप्ति की आकांक्षा जागृत होना भी मुश्किल है। सुख–सुविधायें पाँव की जञ्जीरें बन जाती हैं। इन्द्रियों में शिथिलता आती है, प्रमाद बढ़ता है। सुख है, सम्पन्नता है, और प्रमाद नहीं घुसा है शरीर में, जीवन में,—तो प्रभु की अपरम्पार कृपा मानिये। प्रतिकूलता में पुरुषार्थ के लिये जितनी अधिक अनुकूलता रहती है उतनी अनुकूलता में नहीं रहती।

प्रश्न–मौन में विचार–दर्शन क्या धारणा की प्रक्रिया बनता है ?

उत्तर–यह प्रश्न अपने में स्पष्ट नहीं है। **'धारणा का अभ्यास करने के लिए विचार–दर्शन का उपयोग किया जा सकता है क्या ?** यह प्रश्न हो सकता है।

धारणा के अभ्यास का अर्थ है–सारी क्रियाओं, सब वृत्तियों को समेट कर एक निश्चित विषय पर निर्धारित अवधि तक, पूरी तरह एकाग्र कर देना। (To wind up energies, to gather them togethar, and to focus them for a determined time on a determined subject) —यह है धारणा के अभ्यास का स्वरूप। इस में आप श्वासोच्छ्वास पर तो धारणा का अभ्यास कर सकते हैं। श्वास के साथ अन्दर जायें, वहां थोड़ा ठहरें, फिर उच्छ्वास के साथ बाहर आवें। देखें कि श्वास की गति का क्या परिणाम होता है शरीर पर। दशाङ्गुल बाहर जाता है या

द्वादशाङ्गुल तक पहुँचता है। भीतर कहाँ तक जाता है। भीतर–बाहर श्वास के स्पन्दन कहाँ तक पहुँचते हैं?... इस प्रकार धारणा के लिये श्वासोच्छ्वास का प्रयोग किया जा सकता है। किसी विशिष्ट रूप का, ॐकार का, छबि का, मूर्ति का, दीपक की शिखा का, चन्द्र-सूर्य-तारा का उपयोग किया जा सकता है। —जो वस्तु स्थिर हो, या जिस की गति स्थिर हो, जैसे श्वासोच्छ्वास की है, उसी पर एकाग्रता या धारणा की जा सकती है। आप एक घण्टा भी निरीक्षण करें तो 'भीतर जाना–बाहर आना' –यही क्रिया चलने वाली है।

विचार का ऐसा नहीं है। एक विषय का विचार आया, फिर उस से कोई भी सम्बन्ध नहीं–ऐसे दूसरे विषय का विचार आया, तीसरा भूतकाल की कोई स्मृति उठी, चौथे भविष्य की कोई कल्पना आई। मन तो दसों–दिशाओं में बहुत अद्‌भुत रीति से दौड़ता–कूदता रहता है। उस का धारणा के लिये क्या उपयोग करेंगे? हाँ, यदि इतनी शक्ति हो कि विचार के आवागमन पर वृत्ति को एकाग्र स्थिर कर सकें – प्रत्येक विचार का उमड़ना, शान्त होना, दूसरा विचार आना और दो विचारों के बीच जो अन्तराल है – उस पर भी नजर रखना – इस व्यापक अर्थ में धारणा को लें तो विचार के आवागमन की क्रिया के अवलोकन को धारणा का अभ्यास-विषय बना सकते हैं। अन्यथा एक विचार हो सकता है कि उस पर धारणा क्या करेंगे?

विचार की प्रक्रिया पर धारणा करने में दूसरी कठिनाई यह है कि विचार शब्द है, शब्दों के अर्थ हैं। अर्थ के साथ भावनायें जुड़ी हुई हैं। जब विचार आता है तब पहले वह आप के सन्तुलन को हिला देता है। कोई भी विचार आये, वह सन्तुलन रहने नहीं देता। ज्ञानतन्तुओं में अपने तनाव और रासायनिक प्रक्रिया पर दबाव जरूर पैदा करता है। यह असम्भव है कि विचार उठा हो और उस का प्रभाव शरीर के सूक्ष्म अवयवों पर आघात-प्रत्याघात के रूप में न पड़े। तनाव–दबाव से बिना विचार की गति चल नहीं सकती। इसीलिये न लोग थके हुए से रहते हैं! दो मील दौड़नेवाला एक तरफ और घण्टा भर कुर्सी में बैठ कर जो व्यर्थ विचार–विकार के चक्कर में फँसा है उसे इतनी भयङ्कर थकान आयेगी। क्योंकि विचार का आवागमन, शरीर को निरर्थक धक्के देना–यह शक्ति को खा जाता है। Brooding, worrying, anxiety–ये सब जीवनी शक्ति को खा जाने वाली बीमारियाँ हैं। इसीलिये अपने यहाँ निर्विचार–निर्विकार अवस्था का इतना महत्त्व बतलाया गया है। उस में आप रहेंगे तो तनाव-दबाव से मुक्त अवस्था रहेगी।... इसीलिये, मेरी समझ के अनुसार मुझे लगता है कि विचार को धारणा का बिन्दु बनाने की

झंझट में नहीं पड़ना चाहिये । विचारों को तटस्थता से देखने का उपयोग तो द्रष्टाभाव के अभ्यास द्वारा विचारों के परे, तन-मन की सभी गतियों की शान्ति में, मौन में प्रवेश के लिये है ।

किसी ने पूछा है **संयम के लिये क्या इन्द्रिय-दमन करना चाहिये?** जाहिर है कि ये व्यक्ति सुबह के दोनों सत्रों में यहाँ नहीं थे ।... मेरा देखना ऐसा है कि दमन–पीड़न में अत्याचार है। हस विश्व को प्रभु की काया समझने वाले लोग हैं। अपने पिण्ड में भी परमात्मा हैं – ऐसा हम देखते हैं। निखिल सृष्टि तथा अपना शरीर भी भगवान् का मन्दिर ही है, ऐसा हमारा देखना है। (The cosmos is the temple & the body also is the temple of the Divine.) प्रभु के निवास का एक बिन्दु है यह शरीर भी। **'ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्'** —यह यदि श्रुति ने कहा है, तो उस में से हम बाहर तो नहीं है। अतः शरीर भी 'ईशावास्य' है, पवित्र है। तो इस का दमन कैसे करेंगे? दमन-पीडन करना, शरीर को, मन को, भावनाओं को कुचलना–यह तो जीवन के साथ और परमात्मा के साथ अन्याय है। पहले जरूर ऐसी प्रक्रियायें रही होंगी, लेकिन मैं उन को अवैज्ञानिक कहूँगी। भले ही वह दमन-पीडन बड़े-बड़े महात्माओं ने क्यों न किया हो!

अब वैज्ञानिक अध्यात्म का युग आया है । इस से पहले अध्यात्म-साधना में वैज्ञानिकता नहीं थी। जैसे, भजन गा रहे हैं तो रात भर भजन ही गा रहे हैं। क्योंकि एक नशा है उस में। मस्ती में झूमने लगे, नाचने लगे। रात भर नींद नहीं, इसलिये फिर दिन में भूख नहीं । नशे का भावावेश रहे तो शरीर में गर्मी बढ़ती है, फिर शरीर में बीमारियाँ पैदा होती हैं। अध्यात्म तो ऐसा करने को नहीं कहता। बल्कि तन-मन का स्वास्थ्य पहली आवश्यकता है यहाँ। लेकिन परम्परागत साधना में तन-मन के दमन का कौतुक हुआ है, विकारों को कुचलने के लिये कितनी प्रक्रियायें बनाई गईं। इस अवैज्ञानिक पद्धति में विज्ञान को जोड़ देना है। यानी आप जिन्दगी में जो कुछ भी करते हैं उस में वैज्ञानिक दृष्टिकोण लाना है। (You have to bring a scientific approach to whatever you do in life.) कहीं भी निषेध, निग्रह, दमन-पीड़न के बिना अध्यात्म—साधना होनी चाहिये—इस की खोज करनी है। अध्यात्म के क्षेत्र में बहुत खोज होना बाकी है।

अभी तो गौरव से कहा जाता है—'अमुक व्यक्ति को आत्मसाक्षात्कार हो गया है। उन्हें खाने–पीने की भी होश नहीं है। कहीं भी पड़े रहते हैं!'—यह विदेही अवस्था नहीं है। अपना शरीर भी सँभालने की होश न रहे—वह मस्ती—

बेहोशी विकृति है भाई! अध्यात्म नहीं। आत्मा—परमात्मा के सत्त्व में तो सन्तुलन का आह्लाद है। ऐसे तो हिन्दुस्तान में कितने ही लोग हैं जो मस्ती में धुत्त पड़े हुए हैं और लोग जा कर उन की पूजा करते हैं। लेकिन, आत्मा का साक्षात्कार यदि सन्तुलन को नष्ट कर देता है तो मनुष्य के पास जो था वह भी गया? शराब को बुरा कहते हैं कि उस से सन्तुलन खो जाता है, फिर अध्यात्म-साधना में सन्तुलन चला गया तो वह पवित्र कैसे? वह असन्तुलन और उसके कारण होने वाले व्यवहार-दोष क्षम्य कैसे? मैं सीधी—सादी व्यक्ति हूँ, ऐसे असन्तुलनों को सहन करने की या उन्हें पवित्र मानने की मेरी तैयारी नहीं।

कुछ लोगों ने उस असन्तुलन को तो सम्हाल लिया और वह साक्षात्कार उन की वाणी में उतर आया। काव्य झरा उन की वाणी से। The spontaneous flow of ecstasy! महाकाव्यों का जन्म हुआ, आध्यात्मिक काव्य का जन्म हुआ। प्रशंसनीय है कि आत्मसाक्षात्कार मस्तक में असन्तुलन पैदा किये बिना वाणी तक उतर आया। लेकिन सुन्दर—गम्भीर ग्रन्थ लिखे और दैनिक जीवन में वाणी शुद्ध नहीं, व्यवहार शुद्ध नहीं; उस में सत्य नहीं, नीति नहीं, कुछ भी आत्मतत्व का सङ्केत नहीं, तो फलश्रुति क्या हुई? केवल अद्भुत ग्रन्थ लिख लेने से क्या व्यक्ति आध्यात्मिक बन गया? यह तो काम पूरा नहीं हुआ।

अच्छा, मान लीजिये उस से भी आगे बढ़े, कि केवल ग्रन्थ-रचना या काव्य—सर्जन में कुशल नहीं, बल्कि बहुत प्रभावपूर्ण विशद प्रवचन भी करते हैं, भलीभाँति विषय समझाते हैं। अनुभूति का सम्यक् निवेदन करते हैं। लेकिन बाकी समय? अभी भी चित्त में ईर्ष्या है, द्वेष है, गाली गलौच है, टेढ़ा—मेढ़ा व्यवहार, असंयम है। देखते हैं न! कुम्भ मेले में कितने साधु—संन्यासियों के झगड़े होते हैं, सिर फूटते हैं! विविध पन्थों के अनगिनत दल आते हैं। फिर कौन आगे चलेगा, संगम में कौन पहले स्नान करेगा— इसी के झगड़े चलते हैं। वहाँ शान्ति रखने के लिये पुलिस और सेना तैनात करनी पड़ती है। ऐसी साधनाओं का अर्थ क्या?... अध्यात्मक्षेत्र में अभी बहुत कुछ होना और करना बाकी है।

प्रभु का साक्षात्कार ऐसा होना चाहिये कि जीवन शुद्ध हो, वाणी शुद्ध हो, चित्त निर्मल हो। भीतर अनुभूति की खुमारी रहे लेकिन व्यवहार का सन्तुलन न जाय, मानवता, सभ्यता, संस्कारिता न जाय। प्रभु का संस्पर्श पा कर यदि मनुष्य परिमार्जित—परिष्कृत नहीं बनता, चैतन्य के स्पर्श से अपनी मनुष्यता गँवा देता है तो ऐसे अध्यात्म की जरूरत नहीं।

जो नया समाज बनाना है, जिसके लिये नये मानव का सर्जन होना है, उस में साधना भी वैज्ञानिक ढंग से होगी। उस में जीवन के प्रत्येक हलन—चलन में सत्य—अहिंसा दाखिल होंगे, अपने साथ भी सत्य—अहिंसा का व्यवहार होगा। तब कहाँ से आयेगा दमन, पीडन, निग्रह, निषेध, खण्डन? 'सर्वेषाम्-अविरोधेन ब्रह्म कर्म समारभेत्!' सब के अविरोध से, सहयोग से, समन्वयात्मक बुद्धि से ब्रह्मकर्म करना है। अतः शरीर—मन—बुद्धि का भी सहयोग लिया जायेगा।

प्रश्न—आत्मचिन्तन और योगसाधना क्या है?

उत्तर—यह तो ये शब्द ही बताते हैं न! आत्मा के विषय में चिन्तन करना। चिन्तन कैसे करेंगे? मदद के लिये पहले आत्मानुभवियों के ग्रन्थ ले लेंगे। उनकी वाणी का सङ्ग करेंगे, या तो किन्हीं सन्त का सान्निध्य मिला तो उन की वाणी का सङ्ग करेंगे। उस से चिन्तन शुरू होगा। आत्मा के बारे में अध्ययन करें, मनन करें, बहुत कुछ सुनें, समझें। लेकिन जो समझ मे आया है वह जब तक जिया नहीं जाता, तबतक साधक-भाव नहीं आता। जैसे उत्तम कोटि की सब सीधा—सामग्री (दाल—चावल—आटा, घी—तेल—मसाले—गुड़—दूध—दही—सब्जियाँ, ईंधन आदि) घर में उपलब्ध होने पर भी रसोई बनाना ही न आता हो, अग्नि सुलगाना ही न आता हो, तो भूखे ही रहना पड़ेगा। कितने अन्न में कितना पानी, कितना नमक—मसाला आदि कब डालें, कितना समय कितनी आँच पर रखें? यह मालूम न हो और कभी किया न हो तो रस—सिद्ध नहीं होता। वैसे ही सर्वोत्तम ग्रन्थ ले आये—वेद, उपनिषद् महापुराण, षट्शास्त्र, सन्तवाङ्मय, दार्शनिक—वाङ्मय—प्लेटो-सुकरात—एरिस्टॉट्ल, आदि के ग्रन्थ लाकर पढ़ भी लिये, लेकिन उन में से निपजती समझ के अनुसार जीना नहीं हुआ तो लाभ क्या होगा? अध्यात्म-साधना के लिये रसोई की उपमा इसीलिये देती हूँ कि उस में रस सिद्ध करने की कला और विज्ञान है। ठाकुर रामकृष्णदेव के समकालीन एक योगी थे स्वामी सीतारामदासजी महाराज। [उन का सत्सङ्ग हमारे कुल में पाँच पीढ़ियों तक रहा। १६० वर्ष की आयु में स्वामीजी ने समाधि ली। मेरे बचपन में बहुत समय उन के पास नर्मदातट पर अमरकण्टक के पास, जाना रहना होता था। उन्हीं से योगासन—प्राणायाम आदि सीखने को मिले।] वे रसोई बनाते तब देखने लायक होता वह यज्ञकर्म! वे कहते कि "वस्तु का रस सिद्ध करना रसोई है, वैसे अपने पास जो जीवन-सामग्री हैं तन—मन—बुद्धि-भावना—इन्द्रियों की शक्तियाँ-यह सब जो मिला हुआ है, इस में से आत्मरस सिद्ध करना है, वही साधना है।"

आप पूछते हैं कि आत्मचिन्तन और योगसाधना में क्या फ़र्क है? वहाँ 'साधन' शब्द आ गया न! उस का अर्थ है स्वशिक्षण। वह साधना करनी होगी अपने नित्यप्रति के जीवन में। सुबह उठ कर रात में सोने तक जो भी कर्म हम करते हैं, वे ही साधना के अवसर हैं। जीवन जीने के कर्म से स्वतन्त्र कर्म का पसारा साधना के नाम पर खड़ा करना अनावश्यक है, अवैज्ञानिक है, अवाञ्छनीय है।

'योगसाधन' बहुत बड़ा शब्द है यह। 'युज्यते अनेन इति योगः' (जिस के द्वारा मिला या जुड़ा जाता है) जिससे हम बिछुड़ गये हैं उस से हमें' वापिस जोड़ने वाली कला या शास्त्र है योग!

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'—चित्तवृत्तियों का उठना शान्त हो जाय। निरोध शब्द का अर्थ सभी पारम्परिक भाष्यकारों से थोड़ा अलग हमें दिखाई देता है। 'निरोध करने' का अर्थ 'रोकना' नहीं है। योगावस्था में चित्तवृत्तियों का आवागमन पूरी तरह (निःशेषेण) शान्त हो जाता है। उस अवस्था की साधना करनी है। वह योगसाधन अलग वस्तु है और सारे जीवन से अनुबन्ध रखने वाली जीवनपद्धति है आत्मचिन्तन–अध्यात्मसाधना।

ॐ

पूर्णाहुति प्रवचन (नवम)

दि. २५/२/८४ प्रातः १०.३० बजे

"व्यतिषजति पदार्थान् आन्तरः कोऽपि हेतुः
न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते !"

मिथिला की भूमि में बहुत समय बाद प्रभु ले आये। शायद जो वाणी अभी हमने सुनी, * कल सन्ध्या में सुनी (श्र. मिश्रजी के घर पर) वह सुनाने के लिये ही प्रभु यहाँ ले आये। कुछ कहना था, कुछ सुनना था, शिबिर को निमित्त बना कर ये दो प्रयोजन निर्विघ्न सम्पन्न हुए।

मेरे साथ आप १९५७ की बात स्मरण करें जब दक्षिण-भारत में विनोबाजी की यात्रा चल रही थी, तब एक बार उन्होंने कहा था कि–'संगठित धर्मों के दिन लद चुके हैं, अध्यात्म का युग आ रहा है। पक्षों की राजनीति के दिन पूरे हुए अब लोकनीति का दिन आ रहा है। विज्ञान और अध्यात्म में जो विरोधाभास था, विरोध का भ्रम था, वह जायेगा।' साथ पद यात्रा के समय ये तीन उद्घोष उनके मुख से सुने थे। अध्यात्मशिबिर के नाम से जब हम सबका यहाँ इकठ्ठा होना हुआ है, तो उन उद्घोषों का अर्थ आज १९८४ में तो समझ लें।

अध्यात्म का युग आया हो तो क्या हम संगठित सम्प्रदायबद्ध धर्मों के अनुयायी बने रहेंगे, कोई हिन्दू, कोई मुस्लिम, कोई जैन, बौद्ध, सिख, बना रहेगा और अध्यात्म-युग का नागरिक भी बन सकेगा? विश्व-कुटुम्ब (global human family) का घटक भी बन सकेगा—ऐसा यदि हमने मान रखा है तो बड़े भ्रम में हैं हम लोग। भेद की इन दीवारों से ऊपर उठना होगा। सब धर्मों में जो सत्त्व है उसका ग्रहण करेंगे, सेवन करेंगे, उसे अपना सत्त्व बनायेंगे। सेवन का अर्थ ही है सत्त्व बना लेना। **'विरोधस्य परिहारः'** विरोधों को छोड़ देंगे, और जो विशिष्टतायें हैं उन्हें परस्पर एकरस बनने देंगे। अपने जीवन में एकरस बनायेंगे—यह सङ्कल्प जब तक नहीं होता है, तब तक केवल

---

* श्रद्धेय मिश्रजी का पूर्णाहुति-प्रवचन परिशिष्ट में प्रस्तुत है। २४/२ की सन्ध्या में उन के निवास पर विशेष गोष्ठी में जो प्रवचन हुआ था, वह प्रकाशनीय न होने के कारण दिया नहीं जा सका।

—सं०

कहते रहने से काम नहीं बनेगा। जिस बात की ओर श्रद्धेय मिश्रजी ने इशारा किया है उसे समझ कर नवविश्व-निर्माण के यज्ञ में अपने जीवन की आहुति देने में जो इच्छुक व्यक्ति होंगे, उन्हें तैयार होना पड़ेगा। उस तैयार होने का आशय विनोबाजी के उक्त तीन उद्घोषों या मन्त्रों में समाया हुआ है ऐसा मुझे दिखता हैं।

इधर वर्तमान स्थिति यह है कि राजनैतिक स्वतन्त्रता पाने के बाद सारा जन-मानस सम्पत्ति और सत्ता पर केन्द्रित हो गया। सम्पत्ति या सत्ता पाने के लिये यदि कुल-कुटुम्ब के संबंधों का फायदा उठाना है तो वह उठायेंगे। जाति भाषा-धर्मसम्प्रदाय को exploit किया जा सकता हो तो वह करेंगे, 'अल्पसंख्या या अनुसूचित वर्ग का होने से काम बनता हो तो वह बनेंगे। सत्ता और सम्पत्ति-लक्षी दृष्टि, सत्ता-सम्पत्ति-लक्षी वृत्ति तथा सत्ता–सम्पत्ति-लक्षी जीवन बन गया, सुरक्षा-सुविधा परायण जीवन बन गया हमारा।–ऐसे में हम कैसे नव-विश्व-निर्माण के सिपाही बनेंगे ?···लोकनीति को चरितार्थ करने वाले नागरिक कैसे बनेंगे ? अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय साधने वाले कैसे बनेंगे ?···सत्ता-सम्पत्ति-सुरक्षा -सुविधा-परायण बनी दृष्टि और वृत्ति से हटकर जीवन के शाश्वत मूल्यों-(जिन्हें बापू ने निचोड़ कर दो शब्दों में रख दिया) सत्य-अहिंसा-पर चलने का सङ्कल्प करना पड़ेगा। इसके सिवा दूसरा कोई रास्ता नहीं है।

रह गई तीसरे मन्त्र की बात। यदि विज्ञान और अध्यात्म का समन्वय होना है या विज्ञानारूढ़ अध्यात्म का युग आना है तो हमें साधक बनना पड़ेगा। 'कार्यकर्त्ता'—भाव को हटा कर 'हम जीवन-साधक' हैं—इस भाव को लाना पड़ेगा। अपना रोज का जीवन ही साधना-क्षेत्र है। इससे अलग किसी विशिष्ट स्थान या परिस्थिति की कल्पना कर रखी हो तोउस भ्रम से मुक्त हो जाना चाहिये। जीवन वर्तमान में है। भविष्य की कल्पना में और बीत चुके हुए भूतकाल में जीवन नहीं है। अतः अपने दैनिक जीवन में ही हमें तैयारी करनी पड़ेगी।

कैसे करेंगे तैयारी ? प्रत्याहार की बात कह के सारा सार तो 'बाबूजी' ने कह ही दिया है, लेकिन तनिक विस्तार करूं। जैसे हम अपने खान-पान के लिये समय देते हैं, परिवार पालने के लिये, आजीविका कमाने के लिये परिश्रम करते हैं, वैसे चित्तशोधन के लिये भी समय निर्धारित करना चाहिये। चौबीस घण्टे में से ७–८ घण्टे यानी जीवन का एक तिहाई हिस्सा तो नींद में ऐसे ही चला जाता है। उससे कोई नुकसान है यह मेरा अभिप्राय नहीं है, लेकिन जागृति में स्वायत्त कर्म करने के लिये, स्वाधीन कर्म के लिये बहुत थोड़ा समय रहता है, उस समय में हम एक क्षण का भी प्रमाद न करें। भगवान् वर्धमान महावीर अपने शिष्यों को जो उपदेश करते थे, उसमें उनका मूलभूत सूत्र था—

'क्षणभर भी प्रमाद न करना गौतम' ! 'रत्तीभर का असत्य नहीं, और पल-भर का प्रमाद नहीं।'–ये दो बातें गौतम को अपने शिष्यवर्ग को महावीर बारम्बार समझाया करते थे ।

हम क्या सङ्कल्प या प्रण कर सकते हैं कि हमारे पास जितना भी समय है, उसमें जरा सा भी प्रमाद नहीं करेंगे परिवार पालने का जो समय है उसमें तो मूल्यों की साधना करनी ही है, लेकिन शेष समय में से प्रतिदिन डेढ़-दो घण्टे–(एक सुबह, एक सन्ध्या या रात्रि) क्या हम एकान्त में निपट अपने आपके साथ बैठने के लिये देंगे ?—चित्तशोधन के लिये, प्रभु से प्रार्थना करने के लिये, प्रपत्तिभाव में जीने के लिये क्या हम तैयार हैं ?···यदि प्रपत्ति का, प्रार्थना का महान् पुरुषार्थ करने के लिये समय नहीं है—दिनभर में कहाँ क्या असत्य हुआ ? किसी का क्या नुकसान हुआ ? वाणी–व्यवहार के क्या-क्या दोष हुए ?–कहाँ-कहाँ अपनी क्या-क्या भूलें हुईं ? इन्हें देख लिया जाय, उसके लिये पश्चाताप हो चित्त में, पश्चात्ताप के आँसुओं से दोष धो लिये जायें—इसके लिये यदि समय नहीं है हमारे पास तो चित्तशुद्धि कैसे होगी ? सिद्धान्तों को मान लेने भर से ? 'गीताप्रवचन' या 'स्थितप्रज्ञदर्शन' पढ़ लेने से, क्रान्ति के ग्रन्थ पढ़ लेने से, क्या चित्तशुद्धि हो जायेगी ? नहीं ।

क्रान्तिकारी बनने के लिये जैसे शरीर में परिश्रमशीलता और तितिक्षा होनी चाहिये, शीतोष्ण सहन करने की शक्ति होनी चाहिये, वैसे चित्त में सम्मान -अपमान, हर्ष-शोक को सहन और वहन करने की शक्ति होनी चाहिये । अपमान सहन करने की शक्ति तो मनुष्य कमा लेगा, लेकिन सन्मान को सहन करने की शक्ति यानी प्रतिष्ठा व सन्मान से चित्त में किसी प्रकार की विकृति पैदा न हो–वह बड़ा कठिन काम है । हर्ष, प्रतिष्ठा में, चित्त का सन्तुलन बना रहे, विनम्रता बनी रहे, यह होता नहीं है । अहङ्कार पिघल कर आर्जव बन जाता है, तब चित्त प्यार को धारण कर सकता है । अहङ्कार को पिघलने का अवसर देना चाहिये ।

आज शिबिर से विदा होते समय कहती हूँ कि चौबीस घण्टे में डेढ़-दो घण्टे तो निकालें जब अपने साथ और अपने प्यारे प्रभु के साथ रह सकें, दुनिया बीच में से हट जाय । जिम्मेवारियों का भार हट जाय, हट जायें सभी उपाधियाँ और आवरण—जिनको हमने धारण किया है, देह के साथ जिनका ग्रहण होता आया है । स्नान के समय जैसे सभी आवरण हटा देते हैं वैसे प्रभु के साथ एकान्त साधने के लिये सभी स्वीकृत स्वायत्त या परायत्त आवरणों को हटा कर बैठें तो सही ! प्रार्थना करें, भजन गायें, मौन में बैठना है तो बैठें, लेकिन उस अवधि में सिवा प्यारे प्रभु के और आपके, तीसरा कोई भी वहाँ न हो । इस प्रकार

के एकान्त में ही तैयारी होगी और यह तैयारी करनी होगी। केवल ग्रन्थ पढ़ने से, चर्चा से, शिबिरों से, प्रवचनों से, काम होने वाला नहीं है। यह स्वशिक्षण ही साधना है। कर्म-व्यापार यानी २२ घण्टे के जीवन-व्यवहार में सत्य-अहिंसा की प्रतिष्ठा और रोज कम से कम डेढ़ घण्टा, जिन्हें अधिक समय मिलता हो वे तीन-चार घण्टों तक बढ़ें—इतना एकान्त में प्रभु के साथ रहें। यह संसार के प्रति मौन का, सब गतियों से मुक्त होकर शरणागति में जाने का, महान् कर्म हमें करना होगा।

महाराष्ट्र में एक सन्त हुए हैं तुकाराम। वे कहते हैं—'सकळां गतींची गति, ती ही शरणागति'—अर्थात् सब गतियों की गति यानी सब गतियों की मंजिल एवं श्रेष्ठ जो गति एवं शक्ति है वह यह शरणागति है। पुरुषार्थ से जितनी राह काटी जा सकती है, उससे अधिक मंजिल के पास पहुँचाती है शरणागति, समर्पण। अतः दिन भर का पुरुषार्थ प्रभु के चरणों में चढ़ाने और दिन भर के पुरुषार्थ के लिये शक्ति माँगने के लिये सुबह-शाम एकान्त में जाना होता है। इस एकान्त के लिये समय निकाला जाय तो चित्तशोधन, जीवनशोधन होगा, अपने जीवन-पुष्प को विकसाने का, निर्मल शुचिर्भूत बनाने का काम होगा।

[श्यामबहादुर जी ने अध्यात्म-शिबिर के लिये बुलाया, और यहाँ आने पर अनेक बातें कीं। यदि मुझे कल्पना होती कि उनके मन में ऐसा कोई अभिसंधि है कि 'गान्धी-सन्तान जो जमात बिखर गई है वह एक हो फिर से, अध्यात्म के बिन्दु पर आकर इकट्ठी खड़ी हो, इसके लिये वे बुलाना चाहते हैं, इसका थोड़ा सा भी इशारा मुझे होता तो मैं दरभंगा तक आने का साहस जुटा नहीं पाती। मुझमें भला क्या शक्ति? कौन सा बल है वाणी में या जीवन में कि यह महान् कर्म मैं कर पाती।]

बात सही है कि महात्मा गान्धी-विनोबा की सन्तानों की जमात बिखरी हुई है, कुछ-कुछ भ्रान्त हो कर भटकी भी है। यह बिखराव यदि सिद्धान्तों पर होता या अज्ञानवश होता तो ज्ञान के माध्यम से अज्ञान का निराकरण करना कोई बहुत मुश्किल नहीं है। शब्दों की मदद से, युक्तियों की मदद से वह काम हो जाता। पर बिखराव सिद्धान्तों पर नहीं है, अज्ञान भी नहीं है। दिल टूटे हैं। परस्पर कटुता और अविश्वास है।

सन्त विनोबाजी की प्रथम पुण्यतिथि पर परंधाम-पवनार में अखिल-भारतीय सर्वोदय-सम्मेलन की पूर्णाहुति के सत्र में मैंने अञ्जलिबद्ध अनुरोध किया था—जो दो-तीन हजार प्रतिनिधि आये थे सर्वोदय के, उनसे, —कि पिछले ८-१० वर्षों में जो कुछ हुआ, जिन कारणों से भी अपनी जमात परस्पर अविश्वास,

कटुता, सन्देह, आरोप—प्रत्यारोपों में फँस गई थी, वह सारा का सारा कलुष धाम नदी में विसर्जित कर दो पुण्यतिथि के पर्व पर, निर्मल हो कर वापस जाओ ! इस अनुरोध से अधिक बहन क्या कर सकेगी ? क्या कह सकेगी ?

१९६२ से ही सर्वोदय आन्दोलन से, सर्वसेवासंघ से या सर्वोदयी-जमात से मेरा कोई साक्षात् सम्बन्ध या व्यवहार रहा नहीं। सम्बन्ध रहा किन से ? भूदान—आन्दोलन में सात वर्ष काम करने से सारे भारत में जो कुछ मधुर व्यक्ति-सम्बन्ध बन गये थे, उन से। वे आज भी कायम हैं। कुछ नहीं तो ५-६ सौ व्यक्ति ऐसे होंगे सारे भारत में, रचनात्मक-कार्यजगत् में, खादी के, ग्रामोद्योग के, नई तालीम के, नशाबन्दी के, गोरक्षा के, हरिजनसेवकसंघ के। गांधीस्मारक निधि के– इत्यादि। इन मित्रों के साथ पत्राचार भी चलता रहा। किन्तु सर्वोदय-आन्दोलन वाले लोग यदि कहें कि आज हम से क्या कहने आई हो ? इतने दिन कहाँ थी ? तो क्या जवाब है मेरे पास। ...अतः अनधिकार चेष्टा तो मुझ से होगी नहीं। लेकिन इतना जरूर कहूँगी कि इस जमात को एक होना पड़ेगा ! जो हुआ वह छोटी–छोटी चीजें हैं, परिवार में ऐसा हो ही जाता है, कोई किसी को कुछ कह बैठता है, किसी के प्रति कुछ कर बैठता है, पर फिर भी परिवार इकठ्ठा होता ही है। गांधी—विनोबा–जयप्रकाशजी में विश्वास रखने वालों का एक विशाल परिवार है भारत-भर में। मैंने १९८० में कहा था

'अन्धेरे में त्रिविध प्रकाश ! गान्धी—विनोबा—जयप्रकाश !'

—हठात् मेरे मुँह से यह निकला था, बाद में मित्रों ने उसे एक सूत्र के रूप में स्वीकार भी कर लिया। तीन प्रकार से एक ही बात कहने के लिये ये प्रकाश–रेखायें हमारे बीच आईं और जो कहना था कह कर चली गईं। लेकिन इन के भी विभूतिमत्त्व में हमें अटकना नहीं है। हमें तो उत्तर–विनोबा–उत्तर जे. पी. के युग में (Post Vinoba, Post J. P. Era) काम करना है। इसलिये नये सिरे से आपस में मिलना, भूतकाल के भूत को झटक कर पीछे छोड़ देना अनिवार्य हो गया है। किन के द्वारा होगा ? क्या होगा ? मैं मैं जानती नहीं हूँ। आप के बिहार में तो रामनन्दनबाबू-ध्वजाबाबू बैठे हुए हैं, उन के पास बैठकर सर्वोदयजगत् के कार्यकर्ताओं को यह करना अत्यन्त सुलभ है। उस के लिये बाहर से किसी को आने की आवश्यकता नहीं।

१९५७ की ही दूसरी घटना याद आती है। कालडी की पदयात्रा चल रही थी। केरल से उत्तर कर्णाटक की ओर आ रहे थे हम लोग। विनोबाजी के पास योरप-अमेरिका-इंग्लेंड के विशेष व्यक्ति मिलने आये थे —रेवरेन्ड माइकेल स्कॉट, मार्टिन लूथर किंग, और अनेक : इन में से किसीने विनोबा

को पूछा— 'क्रिस्मस नज़दीक आ रहा है। आप का क्या सन्देश है पश्चिम के जगत् के लिये? पूछने वाले अमेरिकन थे। विनोबाजी ने कहा सन्देश माँग कर क्या करोगे? तुम लोग उस पर चलना चाहोगे नहीं। चल सकते हो पर चाहोगे नहीं यह मैं जानता हूँ। फिर भी पूछते हो तो कहता हूँ कि अमेरिका ने जितने शस्त्रास्त्र बनाये हैं, क्रिस्मस की पूर्वसन्ध्या में बड़े समारोह—समारम्भपूर्वक उन सब शस्त्र-अस्त्रों को सागर में डुबो देना। यह मेरा सन्देश है अमेरिका के लिये। ...दूसरा सन्देश है कि 'Return to Christ! Return to his serman on the Mount!—इतना कहकर विनोबाजी उठ कर चल दिये थे। 'तुम्हारे पास यीशू बैठा है, पूरब से क्या ले जाओगे? यीशू की बात पर तो अमल करो! उसको यदि कहोगे कि 'यह अर्थनीति नहीं जानता' उस के 'पर्वत से दिये उपदेश' में जो दशसूत्रीय संविधान है मानवजीवन के लिये—उस को स्वीकार नहीं करोगे तो उस के आगे की बात कहने से होगा भी क्या?

उसी दृष्टि से मैं कहती हूँ कि पूरे भारत में तो सर्वोदय-जमात का एकीकरण जब होना होगा तब होगा लेकिन बिहार में तो वह अभी सम्भव है, यदि कार्यकर्ताओं को सद्बुद्धि और प्रेरणा मिले। आशा है परमात्मा किसी को निमित्त बना कर इस बिखरी हुई जमात का आपसी मेल-मिलाप करा लेंगे।

अन्तिम बात कहनी है कि यहाँ वस्तुतः अध्यात्मशिबिर का रूप हो नहीं पाया। शिबिर में जो पूर्णरूप से शामिल होते हैं, पूरी अवधि (५—७ दिन) शिबिरस्थान में ही रहते हैं। मौन एवं अन्य नियम पालते हैं, उन्हीं के प्रति प्रवचन तथा प्रश्नोत्तरी—चर्चा होती है। यह तो कुछ यहाँ बना नहीं। अध्यात्म-चर्चा केवल बौद्धिक तर्क-वितर्क-कुतर्क नहीं है। बुद्धि के लिये वह सर्वथा 'अविषय-अगम्य' है यह मेरा कहना नहीं है, लेकिन अध्यात्मशिबिर में होने वाले प्रवचन केवल बुद्धि की करामत नहीं होते हैं। वह केवल वाक्चातुरी नहीं होती। अपने जीवन का सार शब्दों में उँडेल कर श्रोताओं के पास रखना होता है। यह बड़ा पवित्र कार्य है। ...यहाँ मुझे सामान्य बातों में ही शिबिर को रखना पड़ा। साधना की गहरी बात हो नहीं पाई। यदि कोई गम्भीर साधक आये हों और उन्हें निराश होना पड़ा हो तो उन से क्षमाप्रार्थिनी हूँ।

परिशिष्ट

श्रद्धेय पं. रामनन्दन मिश्रजी के प्रवचन

१.

उद्घाटन-प्रवचन

दि. २१/२/८४ प्रातः १० बजे

(श्र० पं. रामनन्दन मिश्र)

आज इस शहर के निवासियों का परम सौभाग्य है कि उनके बीच आध्यात्मिक जगत् की विश्वविख्यात महान् व्यक्ति ध्यान-शिबिर के उपलक्ष्य में आई हैं। यह सूचना मुझे मिली तो खुशी के साथ आश्चर्य भी हुआ कि विमला बहन इस छोटे से नगर में कैसे आ गईं। मुझे ऐसा लगा कि इसके पीछे ईश्वरीय प्रेरणा है। बहुत दिनों से मेरे अन्तर की यह कामना थी कि विमला बहन के साथ निकट का सम्पर्क हो। इसका एक विशेष कारण भी है,—युगावतार के कार्य प्रधान आधार अतिमानस का प्रसारण। ब्रह्मर्षि विनोबा के परमधाम-गमन के बाद भारतवर्ष के आध्यात्मिक जगत् में ये ही एक व्यक्ति हैं जिनका आध्यात्मिक आधार इतना श्रेष्ठ है कि वे इस काम को कर सकती हैं।...मैं नवविश्व निर्माण के द्वार पर खड़ी मानवता की ओर से इनका स्वागत करता हूँ और आशा करता हूँ कि इस महानिशा में वे प्रकाश की किरण दे'गी।...

गत एक शताब्दी में इतने महामानव भारतभूमि पर अवतीर्ण हुए हैं, जितने इतने कम अन्तराल में कभी नहीं हुए ये। इस शतक में जीवन के सभी क्षेत्र महामानवों-परमात्मा की विशेष विभूतियों से समृद्ध बने हैं, यह हम सब का परम सौभाग्य है, साथ ही युग-परिवर्तन एवं नये सर्जन का सङ्केत भी है।...

पुराण-इतिहास साक्षी हैं कि जब-जब धरा अतिशय भाराक्रान्त हो कर त्राहि-त्राहि पुकार उठी है, तब तब 'गौ'—रूप धारण करके उसने प्रभु-परमात्मा के पास कातर प्रार्थना की है, तब प्रभु अवतार रूप में प्रकट हुए हैं, धरती का बोझ बने हुए अधर्म को मिटा कर धर्म की प्रतिष्ठा की है। जब-जब ऐसे अवतार हुए हैं उस से पूर्व हजारों वर्षों तक धरती पर ऋषि-मुनि तपस्या करते हुए भगवान् के अवतरण के अनुकूल वातावरण निर्माण करते रहे हैं। श्रीरामावतार से ढाई हजार वर्ष पहले से धरातल पर भारत भूखण्ड के दक्षिण भाग में अगस्त्य ऋषि के नेतृत्व में तपस्या हो रही थी।

श्रीकृष्णावतार से पूर्व डेढ़ हजार वर्ष से अर्बुदाचल के निकट प्रदेश में उत्कट तपस्या हुई थी। अब भी आबू की तलहटी के जंगलों में गुप्त रूप से प्रखर तपस्या चल रही है।...इसके अतिरिक्त मयूरभंज क्षेत्र में सुवर्णरेखा नदी के तट पर गहरी तपस्या हजार वर्ष से चल रही है, ऐसे संकेत शास्त्रों में हैं, अन्य प्रकार से भी प्रभु वह संकेत देते हैं।...

(कैसेट् खण्डित होने से प्रायः १० मिनिट ध्वन्यङ्कन नहीं हो पाया है।)

आज हमारे अन्तस्तल में राक्षस बस गया है। वह राक्षस है 'मैं'। चाहे वह राजनैतिक नेता हो या धार्मिक नेता हो, सब के दिल का 'मैं' राक्षसी हो गया है। इसलिये विनोबा अन्तिम बात कह गये—'हम' से 'मैं' को काटो। यह मूलमन्त्र है आज। 'मैं' की जगह स्वाभाविक प्रवृत्ति हो जाय 'हम' के विचार की। 'मेरा क्या होगा ?' यह सोचने के बजाय 'हमारा क्या होगा ?' 'सारे देश का क्या होगा ?' ऐसा सोचें। 'मैं' के ही बिन्दु पर खड़े हो कर उसे आप कैसे मारोगे ? कौन सी तलवार या भाला है जिससे उस राक्षसी 'मै' को मारोगे ? उसे मारने का एक ही तरीका है—कल्याणकारी सङ्कल्पों के बाण चलाना। जैसे कहा है कठोपनिषद् में—**'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा'**—वैसे मैं दूसरी भाषा में कहूँगा कि अन्तर की वृत्तियों को मौन करके, उस पर ध्यान की प्रत्यञ्चा चढ़ा कर, उस में से विश्व प्रेम के तीर आप मानवहृदय में प्रवाहित कर दो। यह महान् शक्ति आप ला सकते हैं अपने में।...हमारा सङ्कल्प बहुत बड़ा है—सारी मानवजाति को भगवान का स्पर्श देने का। इस का मतलब यह नहीं कि सारी मानवजाति ध्यान और समाधि में निमग्न हो जायेगी। मेरा कहना यही है कि विश्वप्रेम की डोर में गुँथे हुए फूल बनेंगे सब मनुष्य।

...[एक बार इस सम्बन्ध में ध्यान में भावी 'अवतार' से बात हो रही थी। धार्मिक परम्परागत मान्यता चली आयी हैं कि अवतारी व्यक्ति के, साधु-महात्माओं के पाँव छूने से अपने किये हुए पाप समाप्त हो जाते हैं, उस पर मैंने कहा—]...क्या पाँव छूने से क्षमा मिल जायेगी ? पाप का प्रक्षालन हो जायेगा ? वह नहीं हो सकता। क्योंकि यह सब धोखे की बातें हैं। जैसा कि ईसाइयों ने प्रथा चलाई है कि जितना भी पाप करो सब आकर गिरजे में कह दो, पादरी सब क्षमा कर देगा। वह सम्भव नहीं। जिसने पाप किया उसे फल भोगना ही होगा। हाँ आज भी अगर भगवान की शरण में आओ और सङ्कल्प कर लो कि 'अब तक मैंने इतने सारे जो पाप किये हैं, अब आगे वह नहीं करूँगा—भगवन् मुझे क्षमा कर दो !—तो बात बन सकती है।

भगवान् से मैं कहता हूँ कि मनुष्य को दोष क्यों देते हो ? प्रकृति तुमने ही बनायी है न !—एक नौजवान १६–१८ वर्ष का हुआ तो उस में कामवृत्ति अपने आप आ जाती है । और बड़ा होने पर महत्वाकांक्षायें आती हैं—खूब सारी धनसंपत्ति कमा लूँ । या फिर धार्मिक जगत् में ही बड़ा सम्मानित व्यक्ति बन जाऊँ । साधुओं का यह सब से बड़ा रोग है । नागाबाबा मुझे बार-बार कहते कि इस रोग को देखो ! आध्यात्मिक साधना करके तुम कुछ और नहीं बन जाओगे, वही रामनन्दन रहेगा । यह हम लोगों का रोग है कि मानते हैं—'हम कुछ विशेष हो गये ।' यह 'विशेष व्यक्ति' बनने की भावना सबके भीतर घुस जाती है, इससे बचना !

...तो जवान आदमी में महात्त्वाकांक्षा आती है, वह किसी भी तरह 'प्रतिष्ठित' बनना चाहता है, MLA, M.P. मन्त्री-मुख्यमंत्री–प्रधानमंत्री बनना चाहता है, इस सब का जो सुख है—उस के लोभ में भगवान् के सुख का केन्द्र सूख गया है । ऐसे मनुष्य को वेदान्त क्या पढ़ायें ? 'यह सब माया है, सुख का आभास है, अनित्य है'—क्या कहें ? सच्चा सुख कभी न पाने से उसकी अनुभूति तो है नहीं । संवेदना भी बधिर हो चुकी ।···सारी रामायण लिख कर राम के प्रेम के लिये उपमान तुलसीदासजी को क्या मिले ?—

कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम ।
तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहु मोहिँ राम ।।

लेकिन तुलसीदासजी से कोई पूछे कि भले आदमी ! नारी मिलेगी तो कोई मौज करेगा, धन मिलेगा तो चुनाव में लगा कर M.P. मन्त्री आदि बनेगा और बहुत कमा लेगा, लेकिन राम को पाने से क्या मिलेगा ?

इसीलिये मैं भगवान् को कहता हूँ कि तुम आदमी को दोष देते हो कि पापी बन गया, मुझे भूल गया । पर आदमी करे क्या ? उसका अन्तर है रसभोगी । रस चाहता है वह । आप अपना रस नहीं दोगे तो शहर के पनाले में मुँह डालेगा वह । बिना रस पिये मनुष्य रह नहीं सकता ! और तुम्हारा ही तो रूप है भोक्ता । 'भोक्तारं यज्ञतपसाम्' तो अगर आदमी भोग करता है तो दोष क्यों देते हो ? उस को आप ने विकल्प क्या दिया ? उसे Alternative दो तो वह उसे भी देखे !...उन्होंने कहा 'विकल्प से तुम्हारा क्या आशय है ?' मैंने कहा 'Mutation of braincells' या मन का मौन ।' वे समझे नहीं । फिर वैज्ञानिकों से कुछ पूछताछ की कि Mutation of braincells का मतलब क्या होता है ? बाद में उन्होंने (भगवान् ने) मुझ से कहा 'हाँ, तुम्हारी बात समझ में आ गई । वह जरूरी है, मनुष्य को सही

अर्थ में मानव बनाने के लिये।'···तब मैंने कहा--"यह विश्व के परिमाण पर करना होगा। अगर आप नहीं करते हो तो आप का प्रयत्न विफल, व्यर्थ होने वाला है। जैसे कृष्णावतार के समय पूर्णपुरूषोत्तम होने पर भी आप नया युग नहीं बना सके, वैसे आज भी नहीं बना पाओगे। और अब तो चतुर्युगी बदलने की बारी है! सतयुग के बाद त्रेता, त्रेता के बाद द्वापर, द्वापर के बाद यह कलियुग का अन्तिम छोर है। यदि काल की पद्धति मानते हों तो अब मन्वन्तर का परिवर्तन होनेवाला है यानी फिर से सतयुग आना है!

वह सतयुग नहीं आ सकता अगर आम आदमी न बदले। कुछ साधू-महात्मा इकट्ठे हो जाँय। कुछ धर्मग्रन्थ लिखे जाँय, उससे बात नहीं बनेगी। करना यह होगा कि 'रस' या 'सुख' के सब विकल्प आदमी के सामने रखें कि यह कामवासना की तृप्ति का आनन्द है, यह धन-सम्पत्ति का आनन्द है, यह उच्च पद-प्रतिष्ठा का आनन्द है, और यह भगवान् से मिलन का आनन्द है।—तू क्या चाहता है वह चुन ले!...अगर इस के बाद भी मनुष्य भगवान् की तरफ नहीं जाता है तो फिर उस की जिम्मेदारी है। लेकिन आज मेरा भगवान् से झगड़ा है कि अपने मिलन का सुख चखाये बिना कैसे आदमी को कह सकते हो कि वह पापी है या भक्त है? भगवान्! आप के सुख का द्वार खोल दो!

वह द्वार खुल भी गया तो उस शक्ति को-उस अजस्र आनन्द को मनुष्य सामान्य के हृदय में प्रवाहित कौन करेगा? दूर देश में कोई Radio या Vidio चलता है तो उस श्रव्य-दृश्य को Relay करने वाले station जहाँ होंगे वहीं वह दिखाई-सुनाई देगा। उसके बिना नहीं। वैसे विश्व के ऊपरी स्तर पर, अतिमानस क्षेत्र से जो कोई विश्वशान्ति के, प्रभुप्रेम के प्रवाह प्रवाहित होंगे तो उनको धरती पर मनुष्यों के जीवन में Relay करने वाले बहुत सारे स्थान (stations) होने चाहियें। उन 'स्टेशनों' का निर्माण विमलाबहन द्वारा हो—यह प्रार्थना कर के आज अपनी बात पूरी करता हूँ।

[एक बात और कहनी है मित्रों से, कि आप मेरी बात सुनने का आग्रह नहीं रखना। वह तो जब चाहो सुन सकते हो। अभी तो ये चार पाँच दिन जो दुर्लभ अवसर मिला है विमलवाणी सुनने का उसे ही आप एकचित्त-एकाग्र एकरस हो कर सुनो और धारण करो! अन्तस्तल को भर लो!]

२.

२३/२/८४ प्रातः १० बजे

मुझे कुछ कहना नहीं है, लेकिन जो लोग आये हैं उनका बार-बार आग्रह होता है कि हम आपकी भी बात सुनना चाहते हैं । मुझे पता नहीं है कि क्या कहूँ । नजदीक रहने वाले तो जब चाहें मेरी बात सुन सकते हैं । अभी मेरी कुछ कहने की इच्छा नहीं, जरूरत भी नहीं । और एक आश्चर्य की बात है कि जो कुछ यहाँ विमलाबहन कह रही हैं, उस से मुझे लगता है कि वे मेरी बात ही बोल रही हैं । मुझे जीवन में ऐसा बहुत कम हुआ है कि कोई दूसरा व्यक्ति मेरी वाणी को कहे । मेरे ही भावों को कहे । यह अद्‌भुत संयोग है । जो कुछ भी मेरे विचार थे—आज उन्हें रसमयी वाणी में विमलाजी कह रही हैं।

मेरे जीवन के अंतर में संजोया हुआ था कि दर्शनशास्त्र और वेदान्त ने जो कहा है उससे कहीं ज्यादा कहा है रसशास्त्र ने । भगवान का परिचय जो मम्मट के काव्यप्रकाश में 'व्यञ्जना' की व्याख्या में मिला, जो जैमिनि के 'अपूर्ववाद' में मिला, जो रसगंगाधर के 'रस' में मिला, वह मुझे वेदान्त में नहीं मिला । मैं तो सच्चिदानंद को एक सूक्ष्मभाव (abstraction) ही मानता हूँ वह पूरा परिचय नहीं देता । पूरा परिचय आज विमलाजी की रसमयी वाणी में है । वह मेरे पास कहाँ जो मैं कह सकूं ।...यह परम सौभाग्य है हम सब का कि विमलाजी यहाँ आयी हैं। सब एकाग्र होकर उनकी वाणी सुनो । मेरी बात सुनने का आग्रह छोड़ दो । मुझे कुछ कहना होगा तो विदाई के दिन १५ मिनिट में अपनी बात कह दूंगा ।

आज आप लोगों ने आग्रह किया है तो अपनी एक छोटी कविता सुना देता हूँ । ठीक याद नहीं मुझे सन् ७६ था या ७७ था, मैं मृत्यु शय्या पर था, और जीने की आशा नहीं थी । कोई बीमारी नहीं थी, बस ९४ F. तापमान रहता था, डॉक्टर के पास कोई इलाज नहीं था । लेकिन लगता था 'अब हूँ अब चला गया !' बड़ा आनन्द था । आनन्द के रस में मानो डूबा हुआ रहता था । उस आनन्द का वर्णन नहीं कर सकता, एकाएक वह जागृत हो गया था । तब यह कविता मुख से निकली थी —

आज हिय मधुपर्व आया ।
प्रिय मिलन का गन्ध लेकर प्रेम का रसदूत आया ।
अमिय–हलाहल-भरा मदिर रस 'है'–'नहीं'' का बिन्दु लाया ।
उल्लास अन्तर में उठा, अर्घ्य क्या स्वीकृत हुआ ?
चिर शून्य की मरुभूमि में रस–उत्स क्या उद्‌भव हुआ ?

आज अन्तर में यह उल्लास, मधुपर्व जगा है। लेकिन किस जगह पर जगा है? बार-बार मेरे अंतर में एक दृश्य आता रहा है, और वह मेरा जीवन का प्रिय दृश्य है जिसे मैं कभी भूल नहीं पाया—'काला नाग फन काढ़े खड़ा है और चारों तरफ़ विष की ज्वाला उगल रहा है। उसके फन पर चढ़ा हुआ छोटा सा कन्हैया मेरा बाँसुरी बजा रहा है। हम सब छोटे बच्चे उसके चारों तरफ़ खड़े हैं। कुछ आनन्द भी आ रहा है, कुछ रुलाई भी आ रही है। एक अद्‌भुत दृश्य है—नाग विष उगल रहा है और उसके सिर पर चढ़ कर कन्हैया बाँसुरी बजा रहा है।'...

आज विषतप्त—विष से जलती हुई — इस सृष्टि पर रस का सागर बहा देना विमला बहन का काम है। यह विष की ज्वाला भी सत्य है और उसके ऊपर खड़ा होकर बाँसुरी बजाने वाला कन्हैया भी सत्य है। उस रसमयी वाणी को सुनकर आप तृप्त हों यही मेरी सबसे प्रार्थना है।

३.

दि. २४/२/८५ प्रातः १०.३०

लोग सुनते तो हैं भगवान् की बात को, अध्यात्म-चर्चा को, लेकिन अपने जीवन की शुद्धि नहीं करना चाहते। और आज हम उस स्थान पर खड़े हैं कि शुद्ध मानवों को खोज रहे हैं। मेरे लेख—'रोटी और भगवान् सबके लिये'—को पढ़ा लोगों ने, और कहा 'होगा कुछ इससे?' मैंने कहा कि **विज्ञान पर आरूढ अध्यात्म** से होगा, विज्ञान और अध्यात्म के मेल से नहीं। यह मेल तो छोटी बात है। अध्यात्म के नीचे विज्ञान को रहना है, भाई-भाई की तरह नहीं। अध्यात्म का सेवक बन कर रहना है। विज्ञान पर आरूढ़ अध्यात्म ही नवयुग ला सकता है। क्यों? क्योंकि वही नये मानव का सृजन करेगा। आज नये मानव की जरूरत है।

आज यह प्रश्न उठ रहा है कि क्या विकास की रेखा समाप्त हो गई? अब आगे कहीं नहीं जाना है? यह प्रश्न सौ वर्ष पहले १८८० में पश्चिम ने उठाया था कि क्या evolution समाप्त हो गया? माना गया था कि अभी नहीं। तो आज विकास के अगले कदम—नवमानव के जन्म की घड़ी आ गई है। नये मानव का जन्म उन गन्दे आधारों पर नहीं हो सकता जो आपने दिल में भर रखे हैं। पहले दिल की शुद्धि कर लो। शुद्धि का पथ आप को बतला दिया है। एक तो विमलाजी ने कहा कि गांठें न बनने दो।...

गांठें जो बन चुकी हैं उन्हें तोड़ना बड़ा कठिन है। मैं ने एक-दो मित्रों की गाँठें तोड़ने की कोशिश की तो वे झगड़ने लगे। उन्हों ने कहा कि 'आप बड़े बनते हैं? हमारे निजी मामले में दखल देने वाले आप कौन होते हैं?'...इत्यादि। चुप हो गया मैं! फिर भी कहा कि मैं तो भङ्गी का काम कर रहा हूँ। यह कोई प्रिय काम तो नहीं है, खुशी से नहीं करता, मैं तो लाचार हो कर आप की गन्दगी धो रहा हूँ।' लेकिन समझ नहीं पाये वे लोग इस बात को। बोले कि जैसा गन्दा है, वैसा ही रहने दो।... और एक तो हिन्दुस्तान में अपने को सीधे 'भगवान्' कहलाने वाले निकले जो आम सभा में कह गये कि 'शुद्धि आदि की कोई जरूरत नहीं। मेरी विशिष्ट ध्यान—पद्धति को पकड़ो। उस से सब ठीक हो जायेगा।...'

यह सब सुन कर हैरान रहता हूँ। मैं तो गांधीजी की गोद में बैठा हुआ आदमी हूँ। मैं आप से कोई तपस्या नहीं चाहता। लेकिन शुद्धि तो चाहता हूँ। दिल शुद्ध हों, जीवन शुद्ध हों, शुद्ध आधार बनें कि भगवान् अपना संस्पर्श दे सके। आपके भीतर से नये मानव का—सच्चे मानव का जन्म हो सके—इस के लिये शुद्धि जरूरी है।

[आज इतनी ही प्रार्थना करुँगा कि इन पाँच दिनों में जो कुछ सीखा हो, उसे यहाँ ही छोड़ कर न जायें, अन्तर में भर कर साथ ले जायें।]

उक्त प्रवचन सुनने पर

श्र० विमलाजी का उद्‌गार

[श्रद्धेय मिश्रजी के शब्द सुनते हुए मेरी आँखों के सामने १९७३ के मार्च मास की ४ ता. खड़ी हो गई। दादा धर्माधिकारीजी के साथ पवनार जाना हुआ था, विनोबाजी से मिलने। मैं ऑस्ट्रेलिया जा रही थी, जाते-जाते दर्शनों के लिये चली आई थी। हम लोग विनोबाजी के कमरे में बैठे थे, तब हँसते-हँसते वे दादा को कहने लगे— "दादा तुम तो ब्राह्मण हो, लेकिन तुम्हारी यह लड़की मेहतर है।" फिर हँस कर मुझे कहते हैं— "May thine tribe increase!" (तेरी जमात उत्तरोत्तर बढ़ती जाये!) ...पल भर के लिये हम समझ नहीं पाये कि वे क्या कहना चाहते हैं। तो खुद ही बोले —'क्यों? नहीं समझी! अरे Divine scavenger! परमात्मा अपनी ओर से भेजता है मनःशुद्धि करने के लिये। उनकी भेजी कुछ जमातें होती हैं।'...अभी आपने बाबूजी के जो शब्द सुने वे सामान्य शब्द नहीं हैं, इतना सङ्केत भर कर सकती हूँ।]

४.

दि. २४/२/८४ प्रातः १०.३०

आप ने विमलवाणी सुनी, बुद्धवाणी सुनी, आध्यात्मिक जगत् की वाणी सुनी। इस से क्या हुआ? क्या कान में कोई अच्छी बात सुनली, और बात ख़तम! तब तो विमलाजी का यहाँ आना ही व्यर्थ हुआ।... स्मरण रखें कि आज असाधारण काल है। यों तो भगवान् की वाणी हर युग में सुनी जाती है, भगवान् की चर्चा हर समय होती है, लेकिन आज हम युगपरिवर्तन के द्वार पर खड़े हैं। विमलाजी की वाणी का महत्त्व इस बात में हैं कि नवविश्व के निर्माण में वह सहायक हो। अगर उन की वाणी सुन कर नये मानव के निर्माण की प्रेरणा आप के दिल में नहीं जगती तो वह वाणी सुनना व्यर्थ हुआ।

नया मानव कैसा होगा? उसे बनाने वाले कैसे होंगे? अर्जुन ने पूछा था–

'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्?

—हे केशव! स्थितप्रज्ञ किसे कहेंगे? समाधि में स्थित व्यक्ति, स्थितधीवाला व्यक्ति, कैसे बोलेगा? कैसे उठे—बैठेगा? कैसे चलेगा? क्या करेगा? यानी कि उसका जीवन कैसा होगा? ऐसे ही– नवविश्व के निर्माता कौन होंगे? 'उन में कितना ज्ञान है? कितना दर्शन है? कितनी समाधि लगती है उन की?'– इस से मुझे कोई लेना-देना नहीं, दिलचस्पी नहीं। मैं उन के जीवन को देखना चाहता हूँ। यदि उन का जीवन परिवर्तित नहीं है तो उन के द्वारा नवविश्व का निर्माण नहीं होगा।

नये विश्व के निर्माता कैसे होते हैं? मुझे पुरानी बात याद आती है। पञ्जाब में किसानों की लड़ाई लड़ कर जेल से छूट कर दिल्ली आया तो गांधीजी से मिलने गया। गांधीजी एक दिन सुबह टहलने के समय मुझे पुराने किले में ले गये। उन्होंने मुझे दिखाया– 'देखो रामानन्दन! यह जो बीच में एक कमरा ऊपर – एक कमरा नीचे वाला मकान देख रहे हो न! उस में मुगलराज्य के संस्थापक रहते थे। वही जगह है जहाँ ऊपर हुमायूँ का दरबार लगता था और नीचे हुमायूँ की बीबी खाना बनाती थी। उस में सीढ़ियाँ इतनी ऊँची ऊँची हैं कि चढ़ते हुए जवानों के भी पैर में मोच आने लगे। उस एक कमरे में वह रहता था। उस के चारों तरफ़ मैदान था। मैदान के चारों तरफ़ लगभग एक हजार कमरे हैं, उन में घोड़े और सिपाही रहते थे।' –गांधीजीने कहा "रामनन्दन! यह मुगलराज्य–संस्थापकों का जीवन था। यहीं वे राजा रहते थे। अब जा कर तुम दिल्ली का किला देख लो। उस में बीचोबीच एक

नाली दिखेगी संगमरमर से बँधी हुई। वह सारे राजमहल के बीच से गई है। गाइड से पूछो तो वह तुम्हें बतलायेगा कि जब दरबार लगता था तब उन नालियों में गुलाब और केवड़े का पानी (इत्र) बहाया जाता था। यह है औरंगजेब और उस के बाद की कहानी।... वे मुगल-सल्तनत के पतन के दिन थे। यह गुलाब-केवड़े की महक सूँघते हुए हिन्दुस्तान का राज कैसे चलाया जा सकता था?" गाँधीजी ने मुझे सलाह दी कि Gyman की Downfall of The Roman Empire किताब पढ़ लो। तब तुम जान सकोगे कि राज्य की स्थापना करने वाले कैसे होते हैं, और उन के पतन के चित्र कैसे होते हैं?

गांधीजी ने क्यों यह कहा था यह बात उस समय भी समझ रहा था, आज और भी समझ पा रहा हूँ। मुझे याद हैं काँग्रेस के संस्थापकों का जीवन। जिन्हों ने भारत को आजाद किया उन की प्रथम श्रेणी के लोगों के साथ मुझे रहने का सौभाग्य मिला। मैं ने पं. मोतीलाल नेहरू का वह जीवन भी देखा था जब वे बादशाह की तरह रहते थे, और वह भी जीवन देखा जब पैसे के लिये तकलीफ़ में उन्हें रहना होता था। जवाहरलाल की माता स्वरूपरानीजी बहुत ही मुश्किल में रहती थीं। उन्हीं दिनों जब बटलर-कमिशन बना, तब हिन्दुस्तान के राजाओं ने मिल कर उन की तरफ़ से वकालत करने के लिये मोतीलालजी को निन्यानबे लाख रुपये देने को कहा था, कि हमारी ओर से बहस करो। तब मोतीलालजी ने गांधीजी को पत्र लिखा। उस समय मैं उन के पास साबरमती में ही था। मोतीलालजी ने लिखा था कि 'मैं बड़ी तंगी में रहता हूँ। यदि एक बार यह काम करलूँ तो फिर कोई तकलीफ़ नहीं होगी।' गांधीजी ने एक वाक्य का एक तार लिखा – जिसे रवाना करने मैं डाकखाने गया था। तार के शब्द थे —"Motilal will not be Motilal, if he accepts this offer." और उस एक वाक्य के तार पर मोतीलालजी ने वह ९९ लाख का offer फाड़ कर फेंक दिया!

डॉ. राजेन्द्रप्रसाद का जीवन भी देखा था। इसी दरभंगा जिले में एक बार उन का ५ दिन का दौरा Tour) था। उस समय कहाँ हमारे पास रुपये थे या कोई साधन थे? यहाँ के पुराने लोगों को याद होगा कि तब एक टमटम-इक्का था जो सदर स्टेशन पर दरभंगा स्टेशन पर रहा करता था। उस पर बैठ कर सफ़र करने में जवानों की भी कमर टूटने लगे ऐसी हालत थी उस की। लेकिन और कुछ भी वाहन-साधन न जुटा सकने के कारण उसी इक्के पर बैठ कर मैं ने राजेन्द्रबाबू को बहेड़ा थाने तक का दौरा कराया था।

मुझे वे दिन भी याद है जब बारडोली–सत्याग्रह के समय गांधीजी के एक-एक दिन में नौ–नौ जगह कार्यक्रम होते थे। एक दिन ऐसा हुआ कि गाड़ी टूट गई थी, मैं तब मोटा–तगड़ा नौजवान था। गांधीजी ने कहा कि 'मोटर तो टूट गई है, अब दूसरा कार्यक्रम कैसे होगा? ... तुम साइकिल पर मुझे ले जा सकते हो?' मैं ने कहा 'बापू! आप बैठें तो जरूर ले चलूंगा!' और गांधीजी को साइकिल की पिछली सीट यानी सामान रखने के 'कैरियर' पर बैठा कर मैं दूसरे गाँवों में कार्यक्रम के लिये ले गया। ...यह देश के निर्माताओं का जीवन था। वे निर्माण करने वाले शिल्पी थे।...

और आज! वह पीढ़ी समाप्त भी नहीं हुई कि 'मन्त्री' लोग, वातानुकूलित कमरों में रहने वाले हो गये, वे बाहर नहीं निकल सकते। कभी दरभंगा जैसी जगह आना पड़ जाय तो यहाँ के कलेक्टर–कमिश्नर की शिकायत करते हैं कि उन के लिये सर्किट हाऊस में Airconditioning का इन्तजाम नहीं किया। ...एक दिन मैं पार्लियामेन्ट का भवन देखने गया। वहाँ फर्श पर कालीन में मेरा पैर आधा धँस गया। मैं ने कहा यह क्या है? तो बताया गया कि यह आज के फैशन का कालीन है। ...ये हैं हिन्दुस्तान के लोकतन्त्र के चलाने वाले 'राजा!' अभी एक पीढ़ी भी नहीं बीती कि हमारी ऐसी हालत हो गया? क्या ऐसे लोगों के हाथों देश का नया निर्माण होगा? ... ऐसे ही 'साधु' भी भरे पड़े हैं आज यहाँ, जिन की सम्पत्ति का कोई हिसाब नहीं कि करोड़ों है या अरबों है? वे क्या हमें भगवान् का, अध्यात्म का मार्ग बता सकेंगे?

इसलिये कहता हूँ कि नवविश्व के निर्माताओ! अपने जीवन की तरफ़ देखो! आप के जीवन का क्या चित्र बनता है? मैं आप को रूखा–सूखा त्यागी बनने को नहीं कहता। जैसा कि विमलाजी ने कहा है, मैं भी उसी मत को मानने वाला हूँ कि शरीर को तपाने के लिये त्याग करना व्यर्थ का त्याग है। ऐसी मेरी एक कविता भी है—

'भोग निरा छिछला धरती का।
त्याग महा सूना साधन का!!'

—भगवान् ने यह सृष्टि बनाई है, उपवासी रहने के लिये नहीं! जैसा कि दीदी ने आप को बताया कि आनन्द से रहो। वैज्ञानिकता से—रसिकता से—सुन्दरता से सब आवश्यकताओं की पूर्ति करो। त्याग जिस का करना है वह अपने आप हो जाता है जीवन में जब किसी महान् वस्तु से प्यार हो गया हो! वह प्यार ही आप को अन्य के त्याग में ले जाता है।...

सन् ४२ की बात है, स्वराज की लड़ाई में हजारीबाग जेल से कूद कर भाग गया था, लाहौर में पकड़ लिया गया मुझे। लाहौर किले में ले जा कर एक कुर्सी की बाँह तोड़ कर उस पर मुझे बैठा दिया और मेरे पैर–जंघा–कमर सब को लोहे की भारी जंजीरों से जकड़ दिया। जिस से मैं जरा भी झुक न सकूँ और सिर के चारों ओर संगीन लगाये रखते थे जिस से झोंका न खा सकूँ–सो न सकूँ। British Torchering System की बड़ी युक्ति है अपराधी को सोने न देना। माथे के चारों तरफ़ ऐसे संगीन ताने रहते थे कि ज़रा भी झुका कि माथा फटा। उस हालत में रख के मुझे माँ–बहन की गालियाँ देते थे और कहते थे कि बोल ! वायसराय के महल पर जो बम गिराने का षड्यन्त्र था उस में कौन–कौन था ? कैसी स्कीम थी ? तुम्हें हथियार कहाँ से मिले ? रुपये किसने दिये ? मैं जवाब देता नहीं था तब बेतहाशा मारते थे। ...कभी पैंतरा बदल कर कोई एक–दो सिपाही मुझे ऊपर के कमरे में ले जाते खूब मिठाई खिलाते और कहते कि 'ये बाकी लोग तो आप को मार डालेंगे, मैं आप को यहाँ से बाहर ले जाऊँगा, रहने को राजमहल दूंगा, सब सुख–सुविधायें जुटा दूँगा, आप को कोई तकलीफ़ नहीं होगी, सिर्फ यह बता दो कि वायसराय के महल पर बम गिराने की स्कीम कैसी थी ?—उस समय मैंने एक कविता–पंक्ति उन से कही थी—

'कीमत पर मत कोहिनूर दिखलाना रे अभिमानी !
किस कीमत पर बेचूं अपने दिल की भरी कहानी ?'

मैं जान–बूझ कर तपस्या करने उस जेल में नहीं पहुँचा था। मुझे कोई ख्वाहिश नहीं थी तपस्या करने की। लेकिन भारत की आज़ादी मुझे प्यारी थी। इसीलिये ये यातनायें मुझ पर आ गईं। तब मैं ने 'त्याग' के लिये नहीं, भारत के प्रेम के लिये, स्वतन्त्रता के प्रेम के लिये सब सहन कर लिया। उसे त्याग नहीं कहते !... उसी लाहौर किले से मैं ने अपनी पत्नी को लिखा था—

'सोने के पिंजरे में रानी ! पंछी तेरा रह न सकेगा।
जलती है धरती की छाती, अधरों का रस पी न सकेगा।'

मेरा जीवन प्यार का रहा। मैं ने जी भर सब को प्यार किया, अपनी पत्नी को भी, बच्चों को भी, — यह कहने का मुझे कोई सङ्कोच नहीं। मैं एक सहज जीवन जिया हूँ। उस में ऐसे भी दिन आये हैं कि ६ महीने तक लोगों के गेहूँ मेरी पत्नी पीसती थी और नमक–रोटी खा कर हम रहे। इसी

लहरियासराय में कई रातें ऐसी गई हैं जब पत्नी ने कहा कि आज घर में खाना नहीं है, भगवान् की मर्जी नहीं है। आज बिना खाये सो जाओ। और हम सारा परिवार बिना खाये इसी मकान में सोये हैं। यह बात अलग है कि फिर 'ऊपर के जगत् में तूफ़ान हो गया' और दूसरे दिन कोई आ कर दो हजार की किताबें खरीद कर ले गया।

कहना यही है कि मैंने कोई तपस्या के लिये तपस्या नहीं की। लेकिन तपस्या के बिना कोई महान् कार्य पूरा नहीं होता। और वह तप सहज होता है। यदि आप चाहते हैं नवविश्व का निर्माण तो उसके लिये तैयार हो जाइये। वह कोई मौज की चीज नहीं है। उसकी कीमत चुकानी होगी यानी अपना जीवन बदलना होगा। उस के बिना आपके हाथों नया विश्व नहीं बनेगा।

मैंने अपने जीवन का संस्मरणात्मक ग्रन्थ लिखा तो उसका नाम रखा—'जीवन के तीन अध्याय।' इसमें पहला अध्याय था—'परिवार से विद्रोह' दूसरा अध्याय था—'समाज से विद्रोह' और तीसरा या—'सरकार से विद्रोह'। दूसरा संस्करण छपा तो उसमें चौथा अध्याय आया—'अपने से विद्रोह।' पाँचवा अध्याय अभी लिखना बाकी है, वह लिखा जायेगा तो होगा 'भगवान् से मिलना।'... एक-एक कदम पर मैं जूझता रहा हूँ। स्त्रियों की आजादी के लिये जूझना मेरे जीवन का पहला अध्याय था। मैंने कहा मैं अपनी पत्नी को पर्दे और बन्धन में नहीं रख सकूंगा। परिवार को जो करना हो वह करे।—बहुत धनी जागीरदार घर था। वहाँ पुत्रवधू के पर्दे की कल्पना आज आप कर भी नहीं सकते। लेकिन मैंने कहा मैं यह अधर्म स्वीकार नहीं कर सकता। उस समय तक गांधीजी से सम्बन्ध हो चुका था। मैंने अपनी बात गांधीजी को लिखी। मेरी पत्नी जानती नहीं थी पर्दे से बाहर निकलना, कैसे क्या करना होगा? उसे पता नहीं था।...गांधीजी ने मगनलालभाई की पुत्रियों राधा-दुर्गाबाई को साबरमती से भेज दिया मेरी पत्नी को 'ट्रेनिंग' देने के लिये। मेरे पिताजी ने उसे नैहर भेज दिया। तब मैं भी चला गया। वह लम्बी कहानी है। फिर गांधीजी ने हमें साबरमती बुला लिया और मेरी तरफ से खुद ही मेरे पिताजी को लिख दिया कि एक विद्रोही सन्तान को पिता के धन की आशा नहीं करनी चाहिये। मैंने आशा छोड़ दी और वह फिर कभी लौट कर आई नहीं मेरे जीवन में।

उसके बाद मैं पूरे परिवार सहित कितनी कठिनाइयों में रहा भगवान् ही जानते हैं। लेकिन मैंने कहा कि स्त्रियाँ गुलामी के बन्धन में क्यों रहें? कांग्रेस के खुले अधिवेशन में भी कहा था कि यहाँ तो आप क्रान्ति की बात कर रहे

हो और घरों में स्त्रियाँ कैद हैं उनकी बात क्यों नहीं सोचते ? एक छोर पर आज़ादी और दूसरे पर गुलामी ?—यह कैसे बनेगा ? आजादी चाहते हों तो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वह दिखानी होगी । अपने परिवार में, समाज में स्वाधीनता और समानता लानी होगी । सभा में कहते हो कि जात-पांत का भेदभाव नहीं रहना चाहिये लेकिन ब्राह्मण लोग क्या चमार और मुसहर को अपने घर में बैठा कर खिला सकते हैं ? उन के साथ बैठकर खा सकते हैं।

एक क्रान्तिकारी विद्रोही जो प्रेम के लिये विद्रोह करता है, विद्रोह के लिये नहीं, वह जैसे-जैसे कदम बढ़ाता है उसके पथ में जो बाधायें-काँटे आते हैं उनसे जूझता हुआ आगे बढ़ता जाता है । क्योंकि वह प्रेमी है । जिस में प्रेम नहीं वह विद्रोही नहीं हो सकता और जो विद्रोही नहीं वह प्रेम नहीं कर सकता । प्रेम का पन्थ तो तलवार पर चलना है ।

"यह प्रेम को पन्थ करार महा तलवार की धार पै धावनो है ।
सुई वेहिते द्वार सकीन जहाँ परतीति की डार लदावनो है ।
कवि बोधा अनी घनी तेजहुँ ते चढि तापनि चित्त डरावनो है ।

इसी का एक सूत्र रमण महर्षि ने कहा था कि यह Razor's edge है कोई मौज-मजे की चीज नहीं यह–ध्यान,समाधि ।

...आपने यहाँ दीदी से जो सुना है उसके आधार पर घर जा कर विचारो कि आपके निजी जीवन में कौन-सा परिवर्तन आयेगा, परिवार में कौन-सा परिवर्तन ला सकेंगे और सामाजिक जीवन में क्या परिवर्तन आयेगा ?' भगवान् से नाता कैसे जुड़ेगा ? और, नवयुग का निर्माण करने में आपका क्या योगदान होगा ?

एक दिन मैं बहुत ही व्यथित हो गया था, दिल टूट रहा था बहुत सी बातों से । तब दिव्यलोक के एक महापुरुष ने पास आकर मुझे कहा कि 'रामनन्दनजी ! आज विश्वजननी के गर्भ में नवसमाज-नवमानव का शिशु पल रहा है । उसकी प्रसववेदना देखनी होगी ।' आश्चर्य हुआ सुन कर कि एक प्राचीन महापुरुष ने मार्क्स की शब्दावली में वही बात कही । 'महाशक्ति की बात कर रहा हूँ । उस विश्वजननी के गर्भ में नये विश्व का शिशु पल रहा है उसकी प्रसव-व्यथा को सहना होगा !'...तब से फिर मैं नहीं रोया । और अब तो उस शिशु के जन्म का समय आ गया है । उस में अब विलम्ब नहीं, इसलिये वेदना उत्कर्ष पर है । आप तैयार रहें ।

तैयारी का मतलब है सब तरफ़ से जीवन की शुद्धि । वही मैं आप से चाहता हूँ ।...आज दुनिया में ध्यान (Meditation) की बहुत चर्चा है ।

उसके लिये पागल है सारा विश्व। मैं कभी यह समझ नहीं पाया कि यह क्या बात है ? Meditation तो कोई करने की चीज नहीं वह तो खुद होती है। **ध्यान होने की चीज है करने की नहीं**। और **वह सीखने-सिखाने की भी चीज नहीं। ध्यान कोई दूसरे को करा नहीं सकता। समाधि तो और दूर की बात है**। ध्यान कब समाधि में परिणत हो जाय कहा नहीं जा सकता, कोई जान नहीं सकता। अगर जाने तो वह ध्यान नहीं, समाधि नहीं।...ध्यान-समाधि की बातें बहुत होती हैं, उस पर किताबें भी बेहद छपती हैं। पर वस्तुतः ध्यान-समाधि शब्दों की चीज नहीं। योगदर्शन में धारणा जिसे कहते हैं उसका प्रयत्न हो सकता है, लेकिन मेरे पास उसका भी कोई महत्त्व नहीं। मेरी दृष्टि में महत्त्व है 'प्रत्याहार' का। अपने योग-दर्शन की पद्धति में पहले प्रत्याहार आता है बाद में धारणा-ध्यान-समाधि। आज प्रत्याहार की कोई बात नहीं करता। प्रत्याहार शब्द की चर्चा आज आध्यात्मिक समाज में भी नहीं सुनी जाती। चक्रों के जागरण की चर्चा है। कुण्डलिनी-जागरण के तरह-तरह के उपायों की चर्चा हैं। प्रत्याहार की कोई चर्चा नहीं। और प्रत्याहार ही वह आधार है जिस पर ध्यान उतर सकता है।

प्रत्याहार है क्या ? अन्तर की प्रवृत्ति—मन की वृत्तियाँ जो केन्द्र से निकल कर आहार की खोज में चारों ओर दौड़ रही हैं, वे केन्द्र में लौट आती हैं। जैसे बच्चा दिन-भर खेल में चारों तरफ दौड़ता है, शाम हुई कि 'माँ-माँ' करता हुआ दौड़ कर माँ की गोद में लौट आता है। ऐसे ही, केन्द्र की जो वृत्तियाँ आहार की (भोग की) खोज में बाहर दौड़ रही हैं—उनको कभी याद आती है अपने केन्द्र की—"मेरी माँ ! मेरे प्रभु ! मेरा प्रियतम ! वह तो भीतर बैठा है ! मैं कब तक बाहर दौड़ता रहूँगा ? और बहुत सहज भाव से लौट आता है केन्द्र में। सब वृत्तियों को बटोर लेता है। कोई प्रयत्न नहीं, आकर्षण है। प्रयत्न तो बाद में प्रारम्भ होता है। अगर आपको वह आकर्षण न हो, अगर आप २० सेकेण्ड भी प्रत्याहार नहीं कर सकते हों तो धारणा और ध्यान की चर्चा करना व्यर्थ है। अगर सहज भाव से आप की वृत्तियाँ जो आहार की खोज में बाहर दौड़ रही है चारों तरफ़, वे अपने केन्द्र में, अपने प्रियतम के स्थान पर लौट नहीं आना चाहती हैं, तो उनका ध्यान और समाधि की चर्चा करना व्यर्थ है। वृत्तियों के भोगों का मोह नहीं छूटा हो तो यह आप नहीं कर सकते।

आज समाज पाप में निमग्न है...ऊपर से नीचे तक। ये MLA और M.P.—इनका जन्म ही होता है पाप में से। आप जानते होंगे कि हर

M.P. MLA को चुनाव का खर्चा-लेखा देना पड़ता है। वहां से झूठ शुरु हो जाता है। इसी दरभंगा शहर में देख चुका हूं कि ५ लाख खर्च किया है और हिसाब देते हैं ३५ हजार का। गलत लेखा किये बिना कोई चुनाव में विजय नहीं पा सकता। ऐसे ही मत-गणना में घपला किया जाता है। इसी बात पर वहाँ झगड़े होते हैं। जैसे-तैसे गलत मतगणना अपने पक्ष में कराये बिना कोई जीत नहीं सकता।

...ऐसे ही व्यापारी आय-कर से बचने के लिये दोहरा हिसाब रखते हैं। पेशावर डॉक्टर, वकील, इंजीनियर, कोई भी सरकारी अधिकारी हो — कौन है जो अधिक कमाता है और कम का हिसाब नहीं देता ? सारा समाज आज असत्य में–पाप में डूबा हुआ है।...ऐसे में क्या मुठ्ठीभर भी आदमी निकल सकते हैं जो कहें कि मैं असत्य में नहीं रहूँगा—**असतो मा सद् गमय** ! और इस की कीमत जो चुकानी पड़े वह चुकाऊँगा !

मैं त्यागी-वैरागी बनने को नहीं कहता। प्रेमी बनने को कहता हूँ। गांधीजी सत्य को भगवान् मानते थे, मैं प्रेम को भगवान् मानता हूँ। इन सत्य और प्रेम के अर्थ में कोई अन्तर नहीं है। आज आप में है कोई आदमी ऐसा ? जो सत्य-प्रेम पर न्योछावर होने को तैयार हो।

मुझे याद है, कुछ दिन पहले मेरा एक नौजवान साथी इंजीनियरिंग विभाग में S.D.O. बन गया। एक दिन वह रोता-रोता मेरे पास आया कि आपने ईमानदारी से रहना सिखाया, हमने व्रत लिया। आज मेरा बाप आकर मेरे घर पर बैठ गया है कि 'तेरी बहन की शादी है, मैं इस ठेकेदार को ले आया हूँ तू ३५ हजार रुपिया इससे ले ले और जाली बिल बना दे।' बाप अनशन करने की धमकी दे रहा है। और मैं भाग कर आपके पास आया हूँ कि क्या करूँ–आप बतायें।...ऐसे बाप है जो बेटों को पाप करना सिखाते हैं और बेटे भी ऐसे देखे हैं जो बाप को डाँटते हैं कि मैं परीक्षाभवन में जाता हूँ तो तू चोरी से पुर्जा क्यों नहीं भिजवाता मेरे पास ? बाप किस काम का हुआ ? ...ऐसी दर्दनाक हालत है आज अपने समाज की। वह पाप के गहरे गर्त में डूबा जा रहा है, और उसमें से निकलने की आकांक्षा भी उसकी मर गयी है। ऐसे में आप प्रत्याहार-ध्यान की बातें क्या करोगे ? जीवन का परिवर्तन करो !!

...मैं जब नये अवतार की बातें, नव-विश्वनिर्माण की बातें करता था अपनी मित्र-मण्डली में, तब हमारे बहुत से निकट के साथी भी बड़े अविश्वासी हो गये थे, और कहते थे 'यह रामनन्दन तो सारा जीवन बड़ा ईमानदार और पुरुषार्थी रहा है, यह अब इसने क्या शुरू कर दिया 'शुद्धि करो ! शुद्धि करो !

एक दिन मैंने उन लोगों से कहा कि 'कहो भाई! मैं तुम्हारा नुकसान क्या करता हूँ? तुमसे पैसे नहीं माँगता, चन्दा नहीं मांगता। पैसों की जरूरत नहीं मुझे आदमी की खोज है। इतना ही तो कहता हूँ कि शुद्ध जीवन जियो!'...और यह भी कह देता हूँ कि मेरी बात पर आपको विश्वास नहीं होता, लेकिन मैं रात को १२ बजे कहूँ कि ६ घण्टे बाद सूरज उगने वाला है तो क्या आप विश्वास न करोगे? करो या न करो, पर सूरज उगेगा तब इन्कार न कर सकोगे। इतना याद रखना कि जब परमात्मा की ज्योति आकाश में उदित होगी तब तुम्हारे सब पापों का हिसाब चुकाना पड़ेगा, न्याय-विधाता के कोप से अपने को बचा नहीं सकोगे। भगवान् केवल त्राता ही नहीं होता, संहारक भी होता है। कलियुग की समाप्ति पर विश्व में सतयुग को प्रारम्भ करने के लिये, धरती को शुद्ध करने प्रभु स्वयं आ रहे हैं।

आप साधुओं के पाँव छूकर और दान देकर पाप का प्रक्षालन नहीं कर करते। इससे पाप धुला नहीं करते उलटे दूसरे पक्ष का नुकसान हो जाता है।... लोग जाते समय जब मेरे पाँव छूकर प्रणाम करने लगते हैं, तब मेरा प्राण थर-थर काँपता है।...आप याद रखना कि साधु-महात्माओं के भी रक्तमांस होते हैं। वे बहुत कम हैं जिनके ऊपर ही ऊपर निकल जाता है यह पाँव छूना! कम से कम मैं अपने बारे में दावा नहीं करता। मैं भय-कम्पित रहता हूँ कि हे भगवान् यह कहीं मुझे उलझा न दे। अभी १०-१२ वर्ष पहले की बात है एक छोटी सी गलती मुझसे हो गई थी, और मैं रो पड़ा था। तब भगवान के चरणों में अपना दर्द कहा था--

'हा अभागिन! हा अभागिन!
निर्माल्य भी तू बन न पाई!
चढ़ने चली थी देवचरणों, आप ही पूजित हुई!
इस कलुष की तिक्त ज्वाला जब जगी रवि ढल चुके थे।
देवता रूठे विदा हो, हृदयपथ से चल चुके थे।'

—भगवान् के चरणों में फूल चढ़ा दिया। उस फूल को वे चाहें तो माथे पर रखें, गले में रखें या ऐसे ही उठा कर फेंक दें। निर्माल्य तो हो गया वह फूल! ...मैंने अपने जीवन की यात्रा प्रारम्भ की थी भगवान के चरणों में अर्पित होने के लिये। लेकिन हुआ क्या?...मैं अपनी ही पूजा लेने लगा!...जब स्मरण आया कि यह क्या हुआ? मैंने तो भगवान् के चरणों में अपने को अर्पित करने के लिये व्रत लिया था, और आप ही पूजा जाने लगा?...व्यथा का पार नहीं रहा। वह मेरी करुण व्यथा कितने दिन चली वह आपको क्या सुनाऊँ।...आप से मेरी

विनति यही है कि हम सब हाड़-मांस के बने हैं, हमारी पूजा न करो, भगवान् की पूजा करो। हमारे जैसे लोगों को पथ से विचलित करने की चेष्टा न करो हम सब आपका प्रेम चाहते हैं, आपकी पूजा नहीं चाहते।···गांधीजी इतने महान थे कि सब सहकर भी परम शुद्ध-पवित्र बने रहे, पर सब में वह शक्ति नहीं होती। नंगा बाबा की चेतावनी आज भी कानों में गूंजती है—'रामनन्दन! यह साधुओं का रोग है–अपनी पूजा कराने लगते हैं। याद रखना। अरे! ब्रह्मज्ञान होने से कोई सींग तो नहीं निकल आते। वही रामनन्दन रहेगा!···खैर।

हाँ, मैं कह रहा था कि मेरे जीवनशुद्धि के आग्रह से साथी नाराज़ होते थे। एक दिन कुछ इंजीनियर कमरे में बैठे थे। तब मैंने कहा कि यह बताओ कि मैं ग़लत क्या कहता हूं कि अपना जीवन बदलो! कुछ मांगता तो नहीं! तब एक इंजीनियर बोले–'देखिये, आप अवतार के आने की बात करते हैं और उनके लिये हमें पूरा जीवन शुद्ध करने-रखने को कहते हैं, पर तीन वर्ष की भी देरी हो गई तो मेरा तो प्रतिवर्ष तीन लाख के हिसाब से नौ लाख का नुकसान हो जायेगा!'···मैं चुप हो गया। इसका तो कोई इलाज़ मेरे पास नहीं। इतना ऊँचा पद है, बहुत बड़ा वेतन है, मकान-बगीचा-मोटर सब मिला हुआ है, उसके बाद भी मुफ्त का तीन लाख हर साल चाहिये।···

इसलिये मैं प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि इस मानवजाति पर दया करो। आज चारों तरफ लोभ-मोह और भोग की अधिक से अधिक सामग्री जुटाने में आगा पीछा नहीं देखना–पाप की ऐसी आग में जल रहा है मानव। कैसे कहूँ कि निकलो इसमें से!···लेकिन भगवान् एक नये विश्व की, नये मानव की सृष्टि करने पर तुले हुए हैं, और वे करके रहेंगे। बात कुछ भी करो, हँसो या रोओ। सबके बावजूद नवनिर्माण होकर रहेगा। Inspite of you The Divine Power will bring a new man. The new humanity will be formed, will be formed!

इसमें कोई सन्देह मेरे दिल में नहीं है।